9

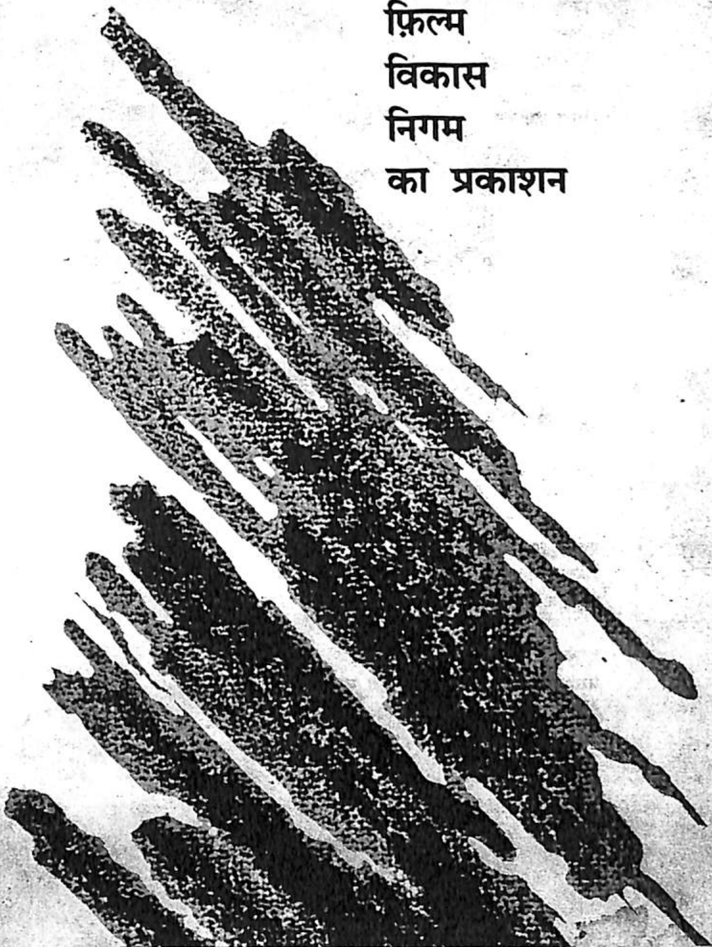
पटकथा

शास्त्रीय सिनेमा पर एकाग्र सीरिज़

सम्पादक

श्रीराम तिवारी

मध्यप्रदेश
फ़िल्म
विकास
निगम
का प्रकाशन



पटकथा
शास्त्रीय सिनेमा पर एकाग्र सीरिज़
वर्ष दो ● अंक 9 ● 1991

प्रकाशक
ओ.पी. दुबे
सम्पादक
श्रीराम तिवारी
अभिकल्प
विवेक
आभार
इन्डिपेंडेंट, बंबई
अनुवाद
सुरेश स्वप्निल

आवरण पारदर्शी : फाल एस. गिरोटा

एक अंक 20 रुपये, वर्ष के 6 अंक 120 रुपये, वार्षिक ग्राहकों के लिए साधारण डाक से शुल्क 100 रुपये, रजिस्टर्ड डाक से मँगाने पर रजिस्ट्री शुल्क अतिरिक्त.

सम्पर्क
मध्यप्रदेश फ़िल्म विकास निगम मर्या.
ई 1/90 अरेरा कॉलोनी, भोपाल-462 016
फोन ● 566908 / 563491 तार ● फ़िल्मदेव

इस अंक में



प्रकारों की अनुपस्थिति और अंगरागी दृष्टि

सी.पी. सुरेन्द्रन

रविवार की सुबह मेरी नींद पर कुल्हाड़ी की तरह गिरती है। अभी भी छिटपुट बरसात हो रही है। किन्तु यह बरसातों में आख़िरी है। बरसात चीज़ों को गहराई और दृश्य को परिप्रेक्ष्य देती है। यह आपको यादों में ले जाती है। यह उदार है, यह अपने को चुका डालती है। यही है जो बारिश को सुन्दर बनाता है। यह बम्बई में संभवतः अकेली सुन्दर चीज़ है। लेकिन आप बारिश में टहलते बहुत लोग नहीं देखते। कारण यह है कि इनमें से अधिकांश रोमांसों की नयी फ़सल देखने के लिए क़तार लगा रहे हैं।

शहर की बरसातों के विपरीत, बम्बई जो फ़िल्में बनाती है, वे सुन्दर नहीं हैं, हालाँकि वे जीवन के इस आयाम से मनोग्रस्त हैं। उनका अपना एक तरह का सौन्दर्यशास्त्र है, अवश्य ही। किन्तु यह कायरता का सौन्दर्यशास्त्र है। हम अधिक अध्यवसाय तथा और भी अधिक भाग्य से, इस लेख के अंत में यहाँ तक पहुँचेंगे। जैसा कि मैं कह रहा था, ये फ़िल्में असुन्दर हैं यद्यपि ये सुन्दर से मनोग्रस्त हैं। यह है दृष्टि जिसे दोष देना होगा। और यह वही दृष्टि है जो कि उफ़नते ग़टर तथा मानव-गंदगी से हमेशा तर सड़क के फैलाव पर मंदिर का एक वर्ग-फ़ुट (गुलाबी संगमरमर की टाइलों से) निर्मित कर लेती है। किन्तु इस एक वर्ग-फ़ुटे मंदिर से, प्रभु गणेश हर एक पर प्रकाश बिखेरते हैं। वे अंग रागी-स्वच्छता से चमचमाते रहते हैं और उसी तरह उनका गुटका-मंदिर भी।

भारतीय सिनेमा का परिवर्ती गर्भाशय कीचड़नुमाँ है। कीचड़, जिसमें से गुलाबी आभा वाले ठग, भड़ुए, आतुर तस्कर, साहूकार तथा आत्म-तुष्ट निर्देशक जो फ़िल्म-निर्माण की अपेक्षा एक जीवन-शैली में अधिक स्थित हैं, प्रस्तुत होते हैं। इसके बाद भी, जब ये सबके-सब सिर जोड़कर बैठते हैं, क्या लेकर आते हैं? एक फ़िल्म जिसमें भला हमेशा बुरे पर विजय पाता है— हज़ारों प्रतिशोध-कथानक जिनमें न्याय अन्ततः हासिल कर लिया जाता है, फ़िल्में जिनमें साहूकारों को बिना न्याय दण्ड दे दिया

जाता है, षड्यंत्रकारी राजनीतिज्ञों को एकदम गोली मार दी जाती है, ऐसे चरित्रों वाली फ़िल्में जिनकी आत्मतुष्टि को हास्यास्पद बना दिया जाता है और भडुएगिरी के कौशल को सज़ा मिलती है। लम्बे समय से, ये फ़िल्म-निर्माता बार-बार सिर जोड़कर बैठते रहे हैं। और, वे उन फ़िल्मों के साथ आते रहे हैं जो प्रेम तथा सौन्दर्य का समारोह करती हैं— दो बातें जिनसे लोग, परदे के पीछे तथा सामने, दोनों ही, एक अनुभवातीत ढंग से लगातार परिचित रहे हैं। प्रकारों की अनुपस्थिति और अंगरागी-दृष्टि की, इस प्रकार, अपनी ज़मीन।

इस अंगरागी-दृष्टि के संबंध में सम्मोहक चीज़ यह है कि यह कोई विरोधाभास नहीं देखती। यदि आप वृद्ध हैं, यह दृष्टि स्वयं को आपको युवा बनाने में लगा देगी, यह आपको युवावस्था में संभ्रमित कर लेगी। यदि आप धनी हैं, आप अनुबंधित श्रमिकों से मकान बनवायेंगे और तब्र, जब निर्माण पूरा हो जाये, आप चाहेंगे कि वे झोपड़पट्टियाँ जिनमें श्रमिक रहते हैं, शहर से हटा दी जाएँ, किन्तु तब भी आपमें उनके लिए एक अमूर्त दया होगी। यह आपको सम्पन्न, सभ्य-मना एवं सदय बनाती है। यह दृष्टि एक शहरी तर्कबुद्धि का अंग है जो कि विरोधाभासों का अंकन और नहीं झेल सकती क्योंकि यह आपको कर्त्तव्य की ओर ले जायेगा। यह आपकी जीवन-शैली को ही बदल डालेगा। हिन्दी फ़िल्मों के रोमाँस इस दृष्टि से एक उड़ान हैं : वे आपको कुछ करने नहीं, केवल निहारने देते हैं।

निहारने को सरल बनाने के लिए, इनके पास झुर्रियों तथा चिन्ताओं से मुक्त सुदर्शन सितारे हैं— मानवीय-सम्बन्धों से विभिन्न चरणों में गुज़रती स्वच्छ आँखों वाली मूर्तिमंत आकृतियाँ जो शनैः-शनैः तथा अन्ततः अपने-आप को विवाह में अपघटित कर लेती हैं। और चूँकि संतानोत्पत्ति विवाह का अंग है, मूल्यों का प्रसार भी, सर्वाधिक प्रभावशाली ढंग से, इसी के माध्यम से सम्पन्न होता है। प्रजनन शब्दशः, पुराने मूल्यों की उत्पत्ति की ही एक विधि है, क्या नहीं? मुख्यधारा का हिंन्दी-सिनेमा, सौन्दर्य, प्रेम तथा अन्य सांसारिकताओं के प्रति अपनी स्पृहा सहित, कुल मिलाकर पुराने मूल्यों के प्रसार के ही बारे में है। यदि आप ताज़ा रोमाँसों के तर्क का अनुसरण करें तो, आप देखेंगे कि वे सभी विवाह में, और परिवार के पुनर्मिलन में ही सम्पूर्ण होते हैं।

ये फ़िल्में, जहाँ तक निर्माताओं तथा दर्शकों का सम्बन्ध है, प्रेम के बारे में हैं— आत्मा तथा शरीर के सम्मिलन की दिशा में दो व्यक्तियों का संघर्ष। उनके पथ की बाधाओं में से कुछ हैं पितृसत्ताक परिवार, सामाजिक विभिन्नताएँ तथा थोड़े-से खलनायक। इनमें से अंतिम तथा उनकी अटलता आसानी से समझे जाते हैं। बाइबिल सीधे-सपाट कहती है, "दुष्ट पृथ्वी को ढाँक लेते हैं।" जो समझने में बहुत सुगम नहीं है वह है विद्रोहियों की उन परिवारों में वापसी जिनके मूल्य बिल्कुल ही नहीं बदले हैं। विद्रोहियों की वापसी पितृसत्तात्मक व्यवस्था के समक्ष कोई चुनौती नहीं प्रस्तुत करती। युवा युगल जिस लघु-युद्ध से शुरुआत में दो-चार होते हैं, धीमें-धीमें किन्तु

अपरिवर्तनीय रूप से पहले सामाजिक तथा फिर पारिवारिक स्वीकार की पुनः प्राप्ति के युद्ध में बदल जाता है। विद्रोही, किसी भी अन्य चीज़ की बजाय, पिता तथा माताएँ बनना चाहते हैं। निश्चय ही, कामगार-वर्ग के जीवन में प्रशाखा-पथ भी हैं यथा **मैंने प्यार किया** तथा **दिल** में। किन्तु ये उनके अपनी हैसियत से अस्थायी पतन के दौरान किये जाने वाले अल्पजीवी साज-सज्जात्मक प्रयत्न हैं। इन रोमाँसों का मूल-विचार, यद्यपि, शहरी आदमों तथा हौवाओं के लिए पारिवारिक स्वर्ग की पुनः स्थापना है।

प्रेम, ठहाके की तरह ख़तरनाक है क्योंकि इसका अन्तःस्थल ध्वंस की काफ़ी सामर्थ्य रखता है, किन्तु इस शब्द के पश्च-मार्क्सवादी अर्थ में नहीं जैसा कि कहें, अंतोनियो नेगरी ने परिभाषित किया है। नेगरी के लिए ध्वंस ''जन-गण की प्रशांत तथा अदम्य प्रतिकारी शक्ति है।'' मैं जिस ध्वंस के बारे में बात कर रहा हूँ वह जन-गण को वर्जित करता है क्योंकि कला को जन-गण से ज्यादा-कुछ नहीं लेना-देना। यह एक व्यक्ति के द्वारा एक निजी स्तर पर वस्तुओं की एक विद्यमान व्यवस्था का सतत, हठपूर्ण निषेध है। किन्तु इस चर्चा में यह मुद्दा तक़रीबन अकादेमिक है क्योंकि हिन्दी रोमाँस, अमर मिल्स एवं बून्स तथा इसी प्रकार की अन्य कथाओं की भाँति, प्रेम को अवक्षय की एक प्रक्रिया की भाँति प्रस्तुत करता है। जो क्षत किया गया है वह है इसकी ध्वंसकारी सामर्थ्य— संभवतः इससे कोई अंतर नहीं पड़ता कि आप इस शब्द की व्याख्या कैसे करते हैं। नायक तथा नायिका दोनों समर्पण कर देते हैं। उनके आत्मसमर्पण का कृत्य पुंसत्वरहित प्रेम के माध्यम से सम्पादित होता है जो कि उनके-अपने तथा समाज किसी के लिये नया कुछ नहीं उत्पन्न करता। वे अंत में, किसी को चुनौती नहीं देते। यह आप याद रखेंगे, वह है जिसका प्रतिनिधित्व निर्माता तथा निर्देशक करते हैं। यह अपने प्रतिनिधियों सहित हमारे रोमाँसों की राजनैतिक अर्थ-व्यवस्था को रूप देता है। रोमाँस, प्रेम तथा सौन्दर्य इस प्रकार लाभों तथा *हानिरहित मनोरंजन* सहित वह सब जिसे लाभ प्रचारित करते हैं, के सिद्धांत बन जाते हैं।
करते हैं, के सिद्धांत बन जाते हैं।

इन फ़िल्मों के सम्बन्ध में कुछ तो स्पष्टतः प्रधान है। प्राधान्य, ग्रॉमसी के अनुसार, चीज़ें जैसी हैं उस तरीक़े की भारी, संतृप्तिकारक सर्वव्याप्ति है, तरीक़ा जिसमें दैनंदिन चेतना वस्तुओं को यथानुसार ग्रहण करती है, प्राकृतिक तथा अप्रश्नेय। ***दीवाना मुझ सा नहीं, दिल, मैंने प्यार किया** तथा **आशिक़ी*** उनके प्रचार-प्रबंधकों द्वारा क्रमशः 'musical saga of love', 'triumph of love against all odds', 'ronance that will set your heart aflutter' तथा 'love makes life live' के रूप में वर्णित की गयी हैं। इन नारों में से कुछ की व्याकरण सहीं नहीं है। संभवतः यह स्वयं फ़िल्मों की असत्यता को चित्रित करती है। क्योंकि 'love that make life live' में इस बारे में पूरी तरह से कुछ भी ताज़ा नहीं है। न

केवल यह कि यह फ़िल्म किसी चीज़ पर प्रश्न नहीं करती, यह इस पुराणपंथी विचार का पुनर्समर्थन करती है कि व्यावसायिक सफलता सच्चे प्रेम के परवान चढ़ने की पूर्वशर्त है। **आशिक़ी** में नायक अपनी प्रेमिका, एक सफल मॉडेल से औपचारिक रूप से समझौता करने के पूर्व गाना गाने के व्यवसाय में घसीटा, फँसा लिया जाता है। एक अथवा दूसरी तरह से यह प्रतिमान-सफलता की शर्त्त पर प्रेम-ताज़ा रोमाँसों में से अधिकांश में अपने-आपको दोहराता है। संदेश स्पष्ट है : प्रेम करो, यदि करना ही पड़े, किन्तु इसके धन-पक्ष की भी चिन्ता करो।

इन फ़िल्मों का वैचारिक ज़ोर, प्रधानी कार्य हमेशा एक जैसा है। इतना अधिक कि ये फ़िल्में ज़्यादातर मामलों में अन्तर्परिवर्तित की जा सकती हैं, और तब भी अर्थ में उल्लेखनीय अंतर नहीं पड़ेगा। आप उदाहरण के लिए उपरोक्त नारों में से कोई भी इन फ़िल्मों में से किसी के भी पूर्व लगा सकते हैं— वे फ़िट हो जायेंगे। आप और आगे जा सकते हैं। इन उज्ज्वलवर्णी, पश्चिमीकृत उच्च माध्यमवर्गीय अभिनेताओं में से कोई भी इन फ़िल्मों में बदला जा सकता है और तब भी इन कृतियों, अस्तु, कला, में कोई भी चीज़ बदलनी नहीं पड़ेगी।

हम यदि ऐसा चाहें तो, इस बिन्दु पर अनेक प्रश्न खड़े कर सकते हैं। इनमें से मुझे जो सबसे अधिक विभ्रमकारी लगता है, वह है कि यदि एक रोमाँस दूसरे की अनुकृति है तो क्यों इनमें से अधिकांश औसतन 25 सप्ताह तक चलती है? क्यों लोग उन्हें एक समान अतिसंवेदनशील मनोग्रस्ति से देखते हैं जबकि दोहराव से तो दूर रहना चाहिए? एक अधिक सहायक रूप से सुसम्बद्ध प्रश्न होगा : हम इन फ़िल्मों में क्या देखते हैं जबकि गूँगे से गूँगा व्यक्ति (ईश्वर उसकी सहायता करे) भी पूर्वानुमान कर सकता है कि निर्देशक अपनी कला के, अपने अभिनेताओं से क्या करवायेगा? क्या यह इच्छापूर्ति है? मैं इस पर सन्देह करता हूँ। यदि यह केवल इच्छापूर्ति का प्रश्न है, तब अधिकांश फ़िल्में फ़्लॉप नहीं होतीं। संभवतः यह है कुतूहल। एक नये युगल को प्रेम करते देखने का स्वप्नदर्शी का कुतूहल। समान रूप से प्रासंगिक हो सकती है वह शक्ति जिसे निर्देशक प्रस्तावित करता है, अपनी दरिद्र कल्पनाशक्ति से उत्पन्न, दर्शक के समक्ष उन घटनाओं के पूर्वानुमान के लिए जो कि उनके समक्ष अनावृत होने जा रही है। यह आपके लिए सम्मान है। तब आर्थिक रूप से सफल फ़िल्म का आवश्यक नियम है कि यह फ़िल्म तेज़ी से आत्मतुष्टि की परम्परा को ग्रहण करती है— कोई भी चीज़ आघात न पहुँचाये। मनोरंजन के ज़रिये किसी भी अन्य चीज़ की अपेक्षा हमें जो चाहिए, वह है सुनिश्चितताओं की सुविधा, संकटों के पारम्परिक समाधान में पूर्वपोषित विश्वास। यह संभव है कि यह दृष्टिकोण— एक पूर्ण व्यवहारात्मक प्रतिमान— वस्तुतः, एक

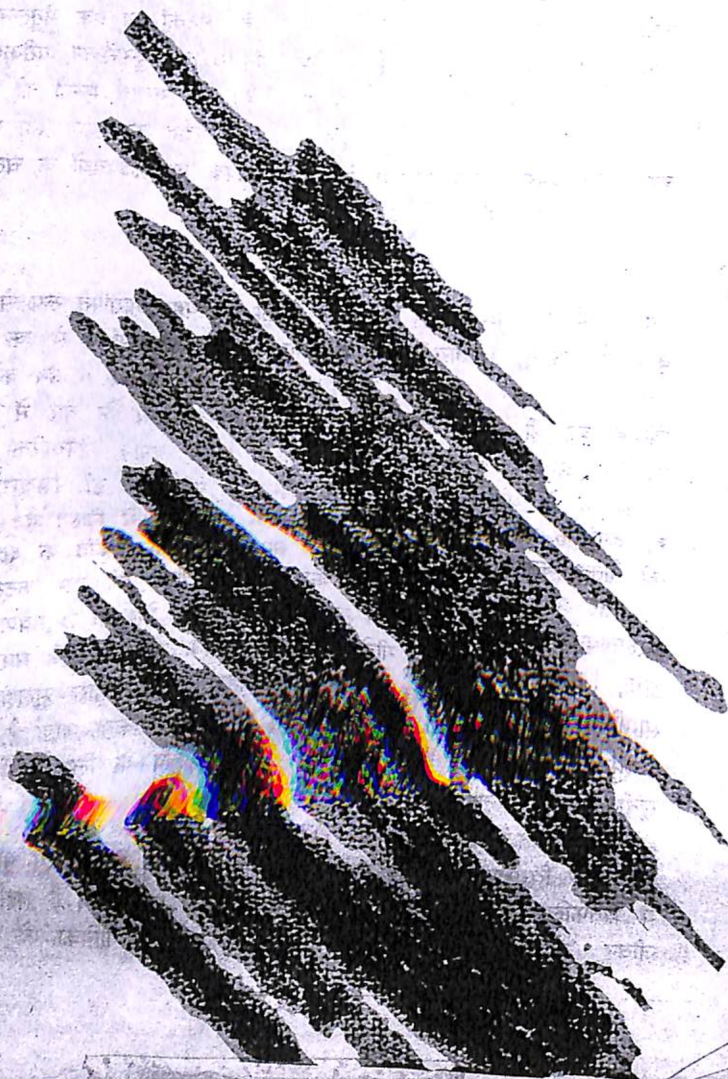
प्रकार के सौन्दर्यशास्त्र के निर्माण की ओर उल्लेखनीय योगदान कर चुका है। कायरता का, नैतिक कायरता का सौन्दर्यशास्त्र। और इसमें फ़िल्म-निर्माता तथा दर्शक दोनों भागीदारी करते हैं। यह वही है जो अंतिम रूप से मुख्यधारा— हिन्दी सिनेमा के प्रचालक-सिद्धांतों की नींव रख रहा है। परिणामतः, यदि स्मृतिलोप के सांघातिक दौरे में, विवाहेतर आस्थाहीनता पर एक फ़िल्म बनाई जाती है, पति को, यथा **ये नज़दीकियाँ** में, अन्ततः उस अनुभव को एक दुःस्वप्न के रूप में लेना ही होगा तथा अपने-आपको अपनी पत्नी से मिलाना ही होगा। यह अब भी स्पष्टतः नैतिक अपमान है, निश्चय ही। अतएव अधिकांश फ़िल्में इस क्षेत्र में उद्यम नहीं करतीं। वे उनकी उपेक्षा का बहाना करती हैं। किन्तु जब आर्थिक दबाव सख़्त पड़ने लगते हैं, वे दिखावटी रूप से एक नया प्रकार (genre) लेकर आती हैं जिसका फ़ार्मूला विद्रोह तथा समझौता दोनों को समेटे रहता है। घटकों का एक संतुलन जो आपको विभ्रम तथा यथार्थ दोनों देता है— प्रेम, प्रतिरोध तथा पुनर्मिलन, परीकथा पुनः सच हो जाती है। विभ्रम विद्रोह वाले हिस्से में है। और यथार्थ मूल्यों की एक व्यवस्था के समक्ष समर्पण की अनमनीय प्रक्रिया है जो विद्रोह को पहले क्रम पर अवक्षिप्त करती है। वस्तुतः, इस माध्यम के अन्य व्यापक मूल्य-विपर्ययों के चलते, अकेला रास्ता है जिसमें समर्पण संभव है।

नये रोमांसों में, प्रेम विवाह के पहले आता है। यह, आरोपित रूप से अवज्ञा का कृत्य है। किन्तु, भारतीय दर्शक के लिए अबोध्य दुस्साहसों में से एक नहीं। उनके लिए अबोध्य होगा कि युवा युगल विवाह के पूर्व वास्तव में प्रेम करें और फिर विवाह करें ही नहीं। किसी सामान्य स्त्री-पुरुष सम्बन्ध के बारे में एक बढ़िया रास्ता है अनुभवों का आदान-प्रदान तथा साथ सो रहना। औपचारिक बन्धन, यदि आवश्यक हों, बाद में आयेंगे। मुक्ति, जैसा कि पास्तरनाक **डॉ. ज़िवागो** में कहते हैं, रूपों के प्रति निष्ठा में नहीं बल्कि उनके अस्वीकार में निहित है। किन्तु भारत की नैतिक कल्पनाशक्ति की विस्मयकारी सामान्यता लोक/संस्कृति के क्षेत्र में किसी भी स्तर पर जटिलता सहन नहीं कर सकती। चीज़ों की इस कट्टर रूप से सरलतावादी योजना में, इच्छा को खुद को अतिभावुक प्रेम के छद्मवेश में छिपाना होगा, जिसकी मुश्किलें कुछ गीतों, ढ़ाई वेशभूषात्मक नृत्यों, नक़ली मार-धाड़ तथा सामूहिक सिसकियों के सत्र के सर्व-सरल-सहज विरेचन द्वारा सुलझाई जायेंगी। सचमुच, प्रेम जैसा कि हिन्दी रोमांस फ़िल्म द्वारा प्रस्तुत किया जाता है, इस प्रकार सूचीकृत हो सकता है। यह सिनेमा— जैसे कलारूप के लिए कार्य-व्यापार की हास्यास्पद स्थिति है, उतनी ही प्रेम की भाँति जटिल भावनात्मक संरचना के लिए भी।

ऐसे मुखर विरोधाभास, समय-समय पर, बिना इरादे के, किन्तु चरम भूमिका-विपर्ययों में प्रतिफलित होते हैं। **मैने प्यार किया** में एक पार्टी-दृश्य है जहाँ खलनायक, जीवन (मोहनीश बहल), सच्चाई बताकर नायक तथा नायिका को लज्जित करता

है। जीवन एकदम निश्चित है कि सुमन तथा प्रेम के मध्य सम्बन्ध लैंगिक हैं और केवल मित्रता नहीं जैसा कि वे विश्वास करना चाहते हैं। वह सही सिद्ध होता है। यदि इस फ़िल्म में कोई नायक होने का पात्र है, तो वह है जीवन। जीवन के आसपास संकेन्द्रित फ़िल्म अधिक रोचक होती क्योंकि वह अन्य के साथ-साथ खुद का सामना करने को भी तैयार है। ओह, किन्तु मैं भूल रहा हूँ— इस प्रकार की फ़िल्म किसी और संस्कृति, किसी और संवेदनशक्ति की पूर्व-कल्पना करती है। या, किसी और जन की?

(अनुवादः सुरेश स्वप्निल)



हिट फ़िल्म, फ्लॉप प्रेम...

प्रभुनाथसिंह आज़मी

हिन्दी फिल्मों में प्रेम का प्रयोग चाहे मसाले के लिए या चाशनी के लिए किया गया हो, लेकिन यह अन्ततः फ़िल्मों की अंतर्धारा के रूप में ही स्पष्ट हुआ है। सामान्यतः हिन्दुस्तानी फ़िल्मों में घर-परिवार के आसपास की कहानियों का तानाबाना बुना जाता है और उसमें चाहे अनचाहे प्रेम अपनी भूमिका अदा करता रहता है। यहाँ पर प्रेम का दायरा बहुत व्यापक और सामान्यतः मानवीय संवेदनाओं की परिणति मात्र स्वीकार किया गया है। मानवीय संवेदनाओं में क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष घृणा इत्यादि मनोभावों पर अनुभूत और अभिव्यक्त के बीच यदि कोई अन्तर आता है तो सामान्यतया सम्प्रेषण की दुरूहता या कलात्मक अभाव का नतीज़ा होता है। किन्तु इन संवेदनाओं में प्रेम सबसे अधिक अनुभूत तत्व है। अनुभूति के स्तर पर प्रेम सबसे अधिक स्वीकार्य और ग्राह्य संवेदना है। कहते हैं प्रेम किसी भाषा का मोहताज नहीं। वह बिना बताये व्यक्त हो जाता है और अनुभूत भी। पंछी, जानवर तक इसे समझ जाते हैं और इसके आगे जाकर प्रेम की अभिव्यक्ति को पेड़-पत्तों तक स्वीकृत मानते हैं। प्रेम को विश्व की सबसे बड़ी भाषा के रूप में भी स्वीकार किया गया है। इस संवेदना के साथ यह व्यापकता इसे जो विस्तार देती है वहीं इसकी अभिव्यक्ति का दुरूह होना कई तरह के संशयों को जन्म देता है।

अभिव्यक्ति के स्तर पर शब्द और कला के माध्यम से इसकी अभिव्यक्ति अत्यन्त दुरूह हो जाती है। प्रेम के साथ अभिव्यक्ति के लिए शब्द, स्वर, दृश्य, कर्म जैसे माध्यम अक्सर प्रेम को अभिव्यक्त करने के बजाय उसे छुपाने का कार्य करने लगते हैं और इसी हाय-तौबा में अक्सर प्रेम संप्रेषित होने के बजाय कुछ और ही व्यक्त हो जाता है और फिर बाद में वक्तव्यों, फुटनोटों और कविताओं के माध्यम से स्पष्ट करने की कोशिश की जाती रही है। फ़िल्म चूँकि दृश्य-श्रव्य माध्यम है, अतः पहुँचने वाले तक आँख कान के सहारे जितना कुछ पहुँचता है वह उस फ़िल्म का सत्य मान लिया जाता है, जबकि फ़िल्म बनाने वाले अपने तईं कुछ ऐसी चीज़ें

मानकर बनाते हैं जो सम्भवतः उनकी कृति में अनकहा सा महसूस किया जाता है। हिन्दुस्तानी फ़िल्मों में प्रेम की अन्तर्धारा को मनुष्य की संवेदना से जोड़कर उसकी जेब तक हाथ साफ़ करने की कारीगरी एक लम्बे समय से फ़िल्मकार करते आए हैं। तभी इस संवेदना को थोकबन्द तरीक़े से संवेदनात्मक शोषण के औज़ार के रूप में इस्तेमाल दिखाई दिया, जिसका छोटा-मोटा प्रयोग शुरू की फ़िल्मों में लगभग हर निर्माता-निर्देशक ने किया है। लेकिन उनके पास उन्हीं फ़िल्मों में से कई ऐसे आधार निकल आयेंगे जिसके सहारे वे अपने आप को उस इल्ज़ाम से बरी करने की कोशिश करेंगे। आख़िरकार एक साफ़ सुथरी लकीर से तथाकथित प्रेम की व्यावसायिकता को फ़िल्म इतिहास के दौरान रेखांकित किया जा सकता है वह है **बॉबी**। वास्तव में बॉबी का निर्माण स्थिति जन्य अथवा फिल्म निर्माण की सतत संभावनाओं की प्रक्रिया के बीच नहीं है। **बॉबी** मूलतः किशोर प्रेम को सिनेमा पर पेश करने के नाम पर परोसी गयी ज़हरीली *डिश* है जो ठण्डे मन से रचे गए षड़यंत्र का नतीजा है। इसके पूर्व फ़िल्मों में किशोर प्रेम को मात्र आकर्षण के रूप में प्रस्तुत करके प्रेम का वास्तविक निर्वाह वयस्क मानसिकता के आधार पर ही किया गया है। किशोर प्रेम एक ऐसा लेबल है जिसके तहत आप उस पूरी पीढ़ी को अपनी तरफ़ कर लेने की मक्कारी कर सकते हैं और पुरानी पीढ़ी को अपनी यादों के साथ आत्मरत होने का नुस्ख़ा पेश करते हैं। इस कोशिश में नैतिकता के कुछ मानदण्ड टूटते हैं और नयी मान्यताएँ जगह लेने लगती हैं। समय के चक्र के साथ इस तरह की स्थितियाँ बनना-बिगड़ना किसी प्रकार के अपराध में दर्ज़ नहीं होतीं, लेकिन यदि इन स्थितियों से मनुष्य की तर्क शक्ति घटती है या वह कुतार्किक होकर वस्तुओं के विनाश में केवल उसके रूप का परिवर्तन जैसे भौतिक सिद्धान्तों पर आरूढ़ होती है तो अन्ततः एक विनाश की सम्भावना ही नज़र आती है। **बॉबी से दिल** तक आलोच्य फिल्मों के माध्यम से एक बात स्पष्ट रूप से सामने आती है कि प्रेम, व्यापार के लिए अच्छे ख़ासे फ़ायदे का ज़रिया है। इस लेबल के इस्तेमाल से आप कृति को उत्पादन की तरह इस्तेमाल कर सकते हैं और उत्पादन को कृति मानकर नाम कमा सकते हैं। कई बार महज़ संयोग से कोई ऐसी बात हो जाती है जैसे आर्कमीडीज़ ने आपेक्षिक घनत्व का सिद्धान्त खोजा था उसी आकस्मिकता के साथ यदि प्रेम का इस्तेमाल केवल बाज़ार में बिकने वाले उत्पाद की तरह होता तो भी उसे ख़रीद-फ़रोख़्त की चीज समझकर मुक्त हुआ जा सकता था, किन्तु इस बाज़ार में उत्पादन जिस भाव बिका है उस में आदमी की अस्मिता पर सन्देह के अवसर सामने आये हैं जिसकी वजह से इस प्रक्रिया और इस बाज़ार भाव में शामिल होने से इंकार और इस निर्माण और व्यवसाय के ख़िलाफ़ बोलना ज़रूरी लगता है। शब्द की अपनी सीमाएँ होती हैं और कला के अपने अन्तर्विरोध। इन दोनों के मेल-जोल से उत्पन्न सृजन सिनेमा, नाटक, नौटंकी जिस प्रकार हमारे समाज पर असर डालते हैं उसको लेकर अव्वल तो गम्भीर चिन्तन हुआ ही नहीं और अगर हुआ तो ऐसी गम्भीरता के साथ कि उसकी उपयोगिता गम्भीर लोगों के

बीच ही समाप्त हो गयी और उसकी व्यापकता बाज़ारू बनकर हेय दृष्टि से देखी गयी।

फ़िल्म जिस सोच और ज़रूरत के तहत पैदा होती है उसको स्वीकृत बिलकुल उसके उलट किया जाता है विशुद्ध कलाकर्म पर लाखों, करोड़ों रुपये लगाकर बाज़ार में लुट जाने के लिए कोई भी फ़िल्मकार बहुत लम्बे समय तक नहीं तैयार हो सकता है। मानते हैं कि कुछ लोग इसके बीच समन्वयवादी ढंग से सन्तुलन स्थापित करने की कोशिश करते रहते हैं, बावजूद इसके, इसके पीछे पैसे का सबसे बड़ा आकर्षण रहता है। अगर अच्छी चीज़ क़ायदे के भाव बिककर आपको पैसे दे देती है तो आपको अपने आप को सन्त साबित करने में तकलीफ़ नहीं होती लेकिन यदि घटिया फ़िल्म अच्छा बाज़ार दे रही है तो वह आपको समाज पर नब्ज़ रखने वाला बनाकर स्थापित करती है। और उसके बाद आप अपनी सफलता को बेहद बेशर्मी से प्रचारित करते नज़र आते हैं। अगर **मेरा नाम जोकर** राजकपूर को भरपूर पैसा कमा कर दे देती तो शायद **बॉबी** का जन्म ही न होता।

इन्क़लाब से लेकर **मेरा नाम जोकर** तक लगभग 35 साल की फ़िल्मी ज़िन्दगी में राजकपूर को **बॉबी** जैसे निर्माण के लिए किसी अन्य कारण ने नहीं प्रेरित किया सिवाय पैसे के। वास्तव में बॉबी राजकपूर का दर्शकों से प्रतिशोध है। **मेरा नाम जोकर** में सिनेमा के सभी पहलुओं को उत्कृष्टता, भव्यता और पूर्णता के साथ पेश करने के बावजूद वे आर्थिक मोर्चे पर पिटे। यह एक अलग क़िस्म का क़िस्सा हो सकता है कि **जोकर** को सबकी सराहना मिलने के बावजूद दर्शक नहीं मिले। जबकि **बॉबी** को आलोचनाओं के बावजूद भर-भर जेब दर्शक मिले।

मेरा नाम जोकर जैसी फ़िल्म को सराह कर भी दर्शकों ने जब अस्वीकार कर दिया तो राजकपूर ने उन्हें बताया कि अच्छा अगर आपको अच्छा नहीं लगता तो यह लो **बॉबी,** भागो इसके पीछे, तुड़वाओ अपने हाथ-पाँव, घोटो संवेदनाओं का गला और देखो प्रेम की हत्या होते हुए अपने सामने, और वह भी ख़ालिस प्रेम के नाम पर। कमरों में बन्द अवयस्क मानसिकता और चाबी खो कर युगल के बीच आसक्ति को जिस प्रकार प्रेम कहकर पेन्ट किया गया है वह प्रेम को आत्महत्या के लिए प्रेरित करने जैसा है। **बॉबी** प्रेम को दिया गया स्लो पॉयज़न है। स्लो पॉयज़न पुराने अर्थों में दिया गया जो कालान्तर में ड्रग और उसके विभिन्न रूपों में व्यसन के उच्चतम संभावनाओं का प्रतीक बन गया। यह धीमा ज़हर बॉबी में राजकपूर ने किशोर वय लड़के-लड़की के बीच आकर्षण को भव्यता प्रदान करके दिया। किशोर लड़का-लड़की के बीच आकर्षण एक नैसर्गिक प्रक्रिया है जिसे छुपाना संभव नहीं है फिर बॉबी में राजकपूर ने ऋषिकपूर और डिम्पल के बीच ऐसा क्या दिखाया जिस पर एतराज़ किया जाना ज़रूरी लगता है? इस तरह के सवाल बतौर जुमले तब भी उठे थे जब **बॉबी** का बाज़ार गरम था और इसे समय परिवर्तन और रूढ़ियों से मुक्ति के नाम पर स्वीकार किया गया था। इसके जवाब में मैं केवल दो-तीन स्थितियाँ ही रखना चाहूँगा। शादी के बाद स्त्री पुरुष अपने शयन कक्ष में जिस सहजता के साथ स्वीकृत किये जाते हैं क्या उसी रूप में अविवाहित

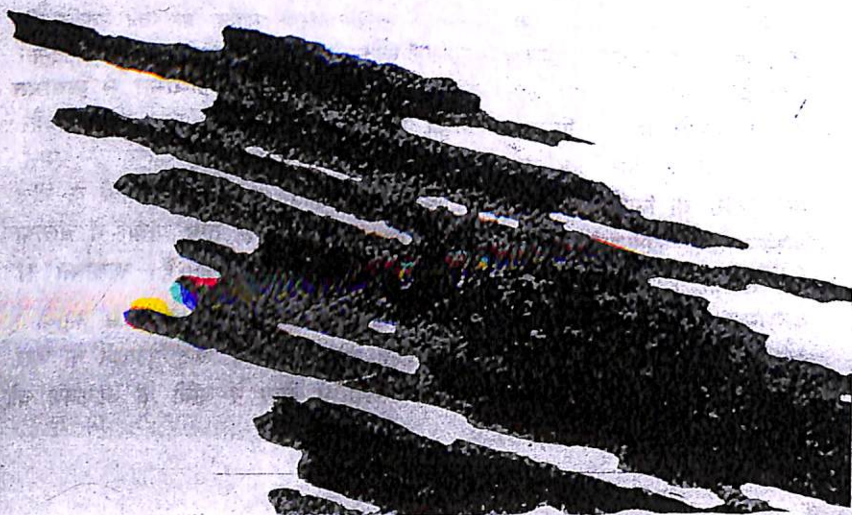
युगल किसी बन्द कमरे में स्वीकृत किये जा सकते हैं? दूसरी स्थिति, यदि विवाह एक अनावश्यक संस्था का नाम है तो आदिम सभ्यता में अविवाहित रहते-रहते सभ्यता ने विवाह की आवश्यकता महसूस की। अन्ततः आकर्षण को पर्दे पर लालीपॉप की तरह पेश करके उसकी नैसर्गिकता को ही नष्ट किया गया है क्योंकि किशोर आकर्षण सामाजिक नैतिकताओं में एक प्रकार का एकान्त प्राकृतिक रूप से चाहता है। फ़िल्म उस एकान्त को क्रूर ढंग से नष्ट करती है और आकर्षण को बेहद बाज़ारू ढंग से गली सड़क पर ला देती है जो इस पूरे रस को विषाणुओं से भर देती है। **बॉबी** के ख़ाने में प्रेम के लिए दैहिक आकर्षण को बीज की तरह इस्तेमाल किया गया है। जिसका अंकुरण **लव-स्टोरी** में अपेक्षा के साथ हुआ है। **लव स्टोरी** का निर्माण किसी कुचक्र अथवा षड़यंत्र की तरह स्पष्ट नहीं है लेकिन उसने **बॉबी** द्वारा स्थापित मान्यताओं और मूल्यों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया और **बॉबी** के दर्शन को एक तरह से स्वीकार कर लिया जो लगभग बॉबी के स्तर का ही पाप है। चूँकि लव स्टोरी का निर्माण राजेन्द्र कुमार का अपने बेटे कुमार गौरव को स्थापित करने का प्रमुख उद्देश्य सामने रखकर किया गया है इसलिये इसकी ख़ामियों को उसी नज़रिये से देखना ज़रूरी है। यद्यपि **बॉबी** का निर्माण भी राजकपूर के बेटे ऋषिकपूर को स्थापित करने के लिए भी किया गया था किन्तु बॉबी के निर्माण में मुख्य भूख **मेरा नाम जोकर** से ख़ाली पेट के लिए पैसे की थी। **लव स्टोरी** ने प्रेम के प्रादुर्भाव के लिए स्थापित मानदण्डों, अवयस्क आकर्षण, आकर्षण की अनुभूति या अकारण अच्छा लगने की स्थिति जैसा सांस्कारिक नहीं था। बल्कि **बॉबी** के दैहिक आवश्यकताओं से उत्पन्न आकर्षण को स्वीकृत मानकर एक तरह से अव्यक्त अपेक्षाओं से उत्पन्न मनःस्थिति के रूप में स्वीकार किया गया था। साफ़ बात यह कि **बॉबी,** एक लड़की को देखा उस पर मर मिटे और उसके लिए ज़मीन आसमान एक कर देने का क़िस्सा है जबकि लव-स्टोरी लड़का-लड़की के बीच संवाद, व्यवहार, आचार और संप्रेषण की एक अपेक्षा की तरह लिया गया है और यही एक कारण है। प्रेम के बारे में जितने चिन्तक हुए हैं उतनी तरह की अनुभूतियाँ और व्याख्याएँ दी हैं। लेकिन यह लगभग सर्व स्वीकृत तत्व की तरह से माना गया है कि दो व्यक्तियों के बीच का प्रेम नितान्त व्यक्तिगत क़िस्म का संबंध है जिसे फ़िल्मों ने बेहद सामान्यीकृत ढंग से प्रस्तुत किया है जिसमें **बॉबी** और **लव स्टोरी** के बाद **बेताब** का अच्छा ख़ासा रोल है। **बेताब** का निर्माण लगभग पहले की दोनों फ़िल्मों की ही तरह धर्मेन्द्र का अपने बेटे को स्थापित करने का करिश्मा है। अब जबकि यह साबित हो ही चुका है कि प्रेम का सिक्का बाज़ार में चल रहा है और चल जाता है इसे धर्मेन्द्र ने भी सनी देओल पर आजमाया। इस फिल्म के गुनाह इसी स्तर पर सामने लाने की जरूरत है कि बेताब ने भी बॉबी और लव स्टोरी की स्थापित मान्यताओं को न सिर्फ सीधे-सीधे स्वीकार कर लिया बल्कि प्रेम के उद्यान को आकर्षण और अपेक्षा से दो कदम नीचे उतार कर उदासीनता के प्लेटफ़ार्म पर खड़ा कर दिया। इच्छाओं, आकर्षणों और रूचियों के बीच बरती गयी



उदासीनता एक तरह का उत्पीड़न है जिसके तहत आहत मन विजय चाहता है और वह बेताब का विषय है तथा कथ्य भी। बेताब ने प्रेम जैसी सुकोमल संवेदना को और भी अधिक आहत किया। उदासीनता धीरे-धीरे एक तरह की संवेदनात्मक लगाव का ज़रिया तो बन सकती है और देर सबेर कालचक्र के साथ उसके बीच एक सामाजिक तारतम्य बिठाया जा सकता है लेकिन उसके मार्फ़त प्रेम की उत्पत्ति ठीक उतना ही सरल दृष्टिकोण से प्रेम को आँकना है जितना शराब की बोतल देकर शहद ख़रीदना। बाप द्वारा बेटे को स्थापित करने की अगली कड़ी का नाम है **क़यामत से क़यामत तक**। 1988 में इस फ़िल्म ने बाज़ार में प्रेम को सिक्के की तरह उछाला और यह साबित कर दिया कि अब प्रेम को सिक्के की ज़रूरत नहीं है बल्कि टीन-एजर्स लव स्टोरी या किशोर वय प्रेम एक घिसा पिटा मुहावरा है। लड़का-लड़की के बीच असीम तथा कल्पनातीत स्थिति को बाक़ायदा एक जिन्स की तरह बाज़ार में चलाया जा सकता है और उसके बदले जो चाहे ख़रीदा जा सकता है। **क़यामत से क़यामत तक** ने प्रेम का क़यामत तक जाने का सीधा रास्ता उपलब्ध कराया है और सिक्कों की मार्फ़त व्यापार करने वालों को सीधे-सीधे बिना उलझन के प्यार बेचने के धन्धे में लगा दिया। अन्ततः 1990 में **दिल** ने बॉबी के आकर्षण को

सीढ़ी-दर-सीढ़ी गिराते हुए सीधे-सीधे घृणा पर ला पटका और इस तरह बतर्ज़ ग़ालिब "बदनाम जो होंगे कुछ नाम होगा?" इस हाल पर ला खड़ा किया जहाँ प्यार पैदा होने की किसी स्थिति की आप कल्पना भी नहीं कर सकते। यानी प्यार, आकर्षण अपेक्षा, उदासीनता, उपेक्षा यहाँ तक कि घृणा से भी पैदा हो सकता है जिस में अगर मैं एक परिकल्पना के रूप में इसे लूँ तो कह सकता हूँ कि आज अगर घृणा से प्यार की संभावनाएँ हैं तो कल यह प्यार बलात्कार के बाद पैदा होगा, उसके बाद बच्चा कर के पैदा होगा और अन्ततः गोली मार कर प्यार पैदा किया जायेगा। इसके बाद मेरी परिकल्पना ठहर जाती है क्योंकि शायद इसके बाद प्यार आत्महत्या से पैदा होगा। क्योंकि प्यार दूसरे से करने की सम्भावना बचेगी ही नहीं और हम अकेले प्यार मर कर ही कर पायेंगे।

इस पूरे छद्म चक्र में सम्भावनाओं के बिन्दु अगर तलाश किये जायें तो लगता है दर्शक आदमी के रूप में अभी शेष है और जहाँ **दिल** जैसी फिल्मों ने उसे चौंका कर घायल करके पैसा कमाया है तो दूसरी ओर मरहम लगाकर संवेदनाओं को जीवित रखते हुए और अत्यन्त क्रूर हुए बिना प्रेम की सुकोमलता को बचाये रखने की संभावना **मैंने प्यार किया** जैसी फिल्मों की बदौलत बरक़रार है। मैंने प्यार किया किशोर वय की इसी कालखण्ड में एक बेहद सफल फ़िल्म का प्रेम संस्करण है किन्तु इस में **बॉबी, लव स्टोरी, बेताब** अथवा**कयामत से कयामत तक** के सतत चल रहे षड़यंत्र को स्वीकार नहीं किया और न उनकी मान्यताओं पर अपने पाँव धरे बल्कि नवें, दशक के अन्तिम सोपान में प्रेम को जीने लायक अनुभूति का अपना मान दिया। मैंने प्यार किया ने चूँकि वर्णित उपरोक्त फ़िल्मों से बड़ा व्यापार का बाज़ार बनाया इसलिए यह बात और भी पुख्ता होती है कि अगर संगठित रूप से षडयंत्र करके समाज को उत्पीड़ित करने की व्यवस्था है तो भी समाज अपने तईं अच्छा-बुरा जरूर सोच लेगा। फिर भी हमला चूँकि सुनियोजित और सुसंगठित है इसलिए उसका प्रतिकार एक सामाजिक कर्म के रूप में अवश्य किया जाना चाहिए।



1
बॉबी

बॉबी जब हिन्दुस्तानी सिनेमा में शामिल हुई, तब प्रौढ़ कथाओं का दौर था। सिनेमा बच्चों के पास जाकर टॉफ़ी के लिए जेब ढीली करने को तैयार नहीं था पर गाहे-बगाहे प्रौढ़ प्यार को उचित साबित करने के लिए बचपन और किशोर प्यार को दिखा कर फर्राटे के साथ लड़के-लड़की को बड़ा बना दिया करता था। यानी किशोर-प्रेम का अच्छा ख़ासा शून्य था। राजकपूर अपनी महत्वाकांक्षी फ़िल्म **मेरा नाम जोकर** बना कर भरपूर यश और प्रशंसा पा चुके थे पर उनकी जेब ख़ाली हो चुकी थी जिसमें प्रशंसा नहीं पैसे की ज़रूरत थी, विशुध्द पैसे की। **जोकर** राजकपूर का सपना थी। बॉक्स ऑफ़िस पर इस फ़िल्म की बेइज़्ज़ती ने राजकपूर को आहत किया और आहत कलाकार के सपनों का विध्वंस **बॉबी** के रूप में सामने आया।

किशोर वय चेहरों को लेकर पूरी विचार श्रृंखला पिरो पाना उन दिनों लाभदायक सौदा नहीं माना जाता था। उस समय पूरे तीन घंटों के लिए सिनेमा में दर्शकों को बाँधे रखने वाला कोई आदमक़द किशोर जोड़ा भी स्थापित नहीं हुआ था। और इस उम्र के प्रेम-कथानक की शून्यता तो थी ही। कुल मिला कर यह एक ऐसा सुरक्षित *गैप* था जिसके इस्तेमाल में सफलता-विफलता के पूरे-पूरे मौक़े थे। यदि इस खेल में राजकपूर ज़रा-सा उत्तेजित हो जाते तो भी और यदि ज़रा-सा चूक जाते तो भी पिट जाने की भरपूर संभावनाएँ थीं। ऐसे में **बॉबी** की नीली रौशनी की व्यवस्था राजकपूर ने ठंडे मन से की। वास्तव में **जोकर** में उन्होंने बहुत हद तक दिल का इस्तेमाल किया था बतौर नायक भी और बतौर निर्देशक भी— यहाँ तक कि बतौर निर्माता भी। **जोकर** पिटी तो दिल भी पिटा और राजकपूर ने इस घटना को बतौर फ़लसफ़ा स्वीकार कर लिया कि दिल का दौर गुज़र गया अब दिमाग़ की ज़रूरत है। बस **बॉबी** इस दिमाग़ी चिराग़ की नीली-रौशनी की तरह चमक गयी।

राजकपूर ने उस वक़्त के सिनेमा के लगभग हर ख़ाली कोण को तलाशा, उसे भरने की युक्ति की और **बॉबी** का उल्कापात रच दिया। चकाचौंध फैली। ऐसे में फटी-फटी आँखों से पल भर में जिसे जो दिख गया उसी को उस दृश्य का सम्पूर्ण सत्य मान लिया। अच्छा-बुरा का हिसाब लगाने की ऐसी क्षणिक रौशनी में संभावना भी कम ही होती है। इस तरह फ़िल्म के चलते रहते ही उसे **खूब अच्छा** और **खूब ख़राब** का विशेषण मिल जाता है। यह अतिशयता भरे सम्बोधनों के दो छोर

दर्शकों को हर ओर से खींच-खींच कर सिनेमा में ला पटकते हैं उसके बाद आप उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकते सिवा इसके कि एक और खूब अच्छा या खूब ख़राब उसके विशेषण में और जोड़ दें। फ़िल्म जब बतौर उत्पादन परोसी गयी है तब टिकट खरीदते ही उसका मतलब पूरा हो जाता है। यह एक चौपड़ है जिसपर आलोचना के चरम बिन्दुओं से किया गया हर प्रयोजन फ़िल्म के पौ-बारह ही करता है। हमारी हिन्दुस्तानी फ़िल्मों के साथ वैसे भी यह बात चरित्र की तरह स्वीकृत है कि वे चरित्रों के चरम बिन्दुओं के बीच ही फ़िल्म बनाते हैं: एक बेहद अमीर तो दूसरा बेहद ग़रीब, एक अत्यन्त दयालु तो दूसरा घोर क्रूर। इससे बनाने वालों को नाटकीयता और भड़कीलापन पैदा करने में आसानी होती है तो हमें देखने में भी आसानी होती है कि चलो जो कुछ पर्दे पर देख रहे हैं वह हमारा संसार नहीं है।

बॉबी अपने सम्पूर्ण स्वरूप में एक बार भी और एक जगह भी यह सोचने का मौक़ा नहीं देती कि यह वास्तव में बॉबी है ही नहीं केवल **बॉबी** का नाम है, नशा है पर फ़िल्म **बॉबी** नहीं है। यह फ़िल्म शुरू ही नशे से होती है। जिस तरह हिप्नोटाइज़ करके आप से वही कुछ करा लिया जाता है, कहा लिया जाता है या स्वीकृत करा लिया जाता है जो हिप्नोटिस्ट चाहता है ठीक उसी प्रकार राजकपूर **बॉबी** में एक नशा फेंक कर वह सब सहज स्वीकृत करा ले गये जो शायद असहज होकर भी आप स्वीकार न कर पाते। फ़िल्म के प्रारंभ में ही पार्टी और शराब की सहजता तथा औरत की उपस्थिति व्यक्ति की उपस्थिति की बजाय वस्तु की उपस्थिति की तरह प्रस्तुत की गयी है। कुल मिला कर आगे के विचार तंतुओं पर शुरू में ही कैंची चला दी गयी है ताकि परिन्दा फड़फड़ाये भले पर उड़ न सके। इस पार्टी में एक अधेड़ से बड़ी औरत को भी *सेक्स सिंबल* की तरह पेश किया गया है तथा एक घरेलू अधेड़ महिला को भी। इस प्रथम दृश्य में ही तथाकथित आधुनिकता का एक ऐसा सुनियोजित हमला सा किया गया है कि दर्शक एक दम अचकचा जाये और शेष फ़िल्म में केवल बचाव की मुद्रा अपनाये रहे।

इस पहले दृश्य में नाथ दम्पति (प्राण-सोनिया साहनी) अपने बेटे की छठी साल गिरह मना रहे होते हैं। जिसमें (सोनिया साहनी) सुषमा बेटे की छठी साल गिरह से अभिभूत वात्सल्यमयी माँ की बजाय आकर्षण का केन्द्र बनने की ललक लिये पार्टी गर्ल की छवि प्रस्तुत करती हैं: कुल मिला कर यह दृश्य भरपूर नशे का असर करता है। अगर इसे राजकपूर के फ़न से जोड़ें तो तारीफ़ तो होगी मगर यह कहना पड़ेगा कि भाई अंगूर तो अच्छा फल है सेहत के लिए भी और स्वाद के लिए भी मगर इसकी शराब? शराब के बारे में क्या कहें?

इस दृश्य में एक अधेड़ औरत उस छह साल के बच्चे का बलात् चुम्बन लेती है और उसे चुम्बन देने को कहती है। यहाँ बात बच्चे से बड़ी हो जाती है। बच्चा उस ढली उम्र औरत के गाल काट लेता है। वाक़ई गाल काट लेता है— केवल मुहावरा नहीं करता। आइये इस मामले पर ग़ौर करें— उंगली उठायेंगे तो तड़ से जवाब आयेगा— मियाँ खोट राजकपूर के दृश्य संयोजन में नहीं आप की आँख

में है। सही बात है— बच्चे को चूम लेने में कौन सी अश्लीलता है। पर ध्यान दीजिये तो साफ़ दिखेगा कि है। औरत और बच्चे के मुँह-गाल तथा उन्हें पार्टी से लेकर हाल में बैठे लोंग तक जिस तरह मुँह छिपा कर सारा दृश्य आत्मसात् करते है उसमें भरपूर अश्लीलता है। कैमरा इस मामले में तटस्थ नहीं रहता— तथा उन बिन्दुओं पर और पैनी नज़र जमाता है, जहाँ से अश्लीलता के अंकुर फूटते हैं। बच्चा गाल काट कर अपना प्रतिकार जताता है— वैसे ही जैसे भागते बच्चे को पकड़ो तो वह छुड़ाकर भागने के लिए हाथ काट लेता है। पर यहाँ औरत, गाल और बच्चा, चुम्बन के माध्यम से, उत्तेजना के औज़ार नज़र आते हैं। यह नज़र का खोट नहीं, नज़रिये की चोट है जिसे राजकपूर ने जानबूझ कर दी है और वही ग्रहण होता है जो वे चाहते हैं।

यह *गाल* प्रसंग गंभीर रूप लेता है। यदि हल्के-फुल्के से दृश्य को निबटा दिया गया होता तो इसका नोटिस न भी लिया जाता और हो सकता है इस नशे के असर में थोड़ी कमी आती। मगर नहीं राजकपूर नैतिक-अनैतिकता अथवा अनैतिक-नैतिकता के बहाने अपनी नीली चमक जगाये रखते हैं। इस मामले को तूल दिया जाता है और बाप, मिस्टर नाथ (प्राण) बेटे (6वर्षीय) राजू (ऋषिकपूर) को सजा सुनाते हैं। बोर्डिंग हाउस भेजने का निर्णय सुनाते हैं। कुल मिला कर एक दृश्य में ही फूहड़ता, अश्लीलता, क्रूरता सभी कुछ ख़ासे सुस्वादु ढंग से परोस कर रुचियों को विकृत करने का कुचक्र रचा गया है और सफलता से रचा गया है। वास्तव में बच्चे को बोर्डिंग हाउस में रख कर पढ़ाना क्रूर कर्म हो न हो पर इस दृश्य रचना ने उसे क़साई कर्म बना दिया है।

बच्चे का प्रयोग हो चुका। एक कोरा चेक चुका। इससे अधिक इस कोने में गुंजाइश नहीं थी। अब उस बच्चे को बड़ा होना होगा। ठीक वहाँ तक जहाँ **जोकर** में प्यार का दैहिक अर्थ जानने वाला, बल्कि जानने के ठीक दरवाज़े पर खड़ा किशोर है। अपनी टीचर को चाहने का मासूम गुनाह करता है, टीचर और बच्चे के दृष्टिकोण अलग-अलग हैं जिसमें टीचर द्वारा बच्चा कहे जाने पर बच्चे को ऐतराज़ है, "मैं बच्चा नहीं हूं!" बच्चे से किशोर होने के बीच 'शिक्षा' है। बंबई और मराठी के बीच शिक्षा, सबक़ और दंड के बीच का असर छोड़ती है। राजकपूर **बॉबी** में इसका इस्तेमाल इसी तरह करते हैं। होस्टल का हमउम्र दोस्त किशोर राजू **(ऋषिकपूर)** को खिड़की-दरवाज़ों के बाहर की बातें समझाता है। राजू "मैं शायर तो नहीं....." रचता है और उसका दोस्त उसे हाड़-माँस की सजीव कविता का 'ऑफ़र' देता है। सजीव कविता को समझे देखे बग़ैर "मैं शायर तो नहीं...." रचना, अर्थ और शब्द के साथ छेड़खानी मात्र है पर ये पंक्तियाँ छेड़खानी मात्र नहीं हैं। यानी जो कुछ राजू के भीतर घट रहा है और उम्र जो कुछ माँग रही है उसे उसके दोस्त की मार्फ़त बयान किया गया है और जब दर्शक इस रस को ग्रहण करने लगता है राजू द्वारा उस वक्तव्य को घटिया बता कर उसे अच्छा बता दिया जाता है। यह दर्शक का रस रोकता है। इस छल से चस्का पैदा किया जाता है जिससे आगे

आने वाले प्रंसग का रस और भी बेहतर ढंग से आत्मसात कराने में आसानी हो। राजू को उसका दोस्त कहीं बाहर चलने का आमंत्रण देता है। राजू माँ-बाप से अनुमति माँगे बिना नहीं जाना चाहता। यहाँ उसका दोस्त कुछ यूँ उकसाता है कि माँ-बाप से अनुमति माँगना बचपना है और उनकी अवेहलना करना बड़े होने की निशानी है। यहाँ राजकपूर पासा फेंकते हैं। यदि किशोर होते बड़े-बच्चे माँ-बाप की आज्ञा न माँगने-मानने को अपने सयानेपन से जोड़ लेते हैं तो यह एक तरह का संक्रमण काल होगा जिसे क्रांति की तरह उपयोग करके वे खुद उसके मसीहा के रूप में स्थापित हो जायेंगे और अगर उसके ख़िलाफ़ गया तो इल्ज़ाम पुरानी पीढ़ी पर थोप कर सयानों के साथ हो लेंगे। राजकपूर ने यहाँ भी उस कोमल भावना के साथ क्रूरता बरती है जहाँ अघोषित रूप से आप का प्रस्ताव पूर्व स्वीकृत हो, तो भी आप उसे मात्र नीचा दिखाने अथवा ऊँचा उठने की नीयत से न रखें, और न मानें।

आख़िरकार राजू घर आया। उसके जन्मदिन की तारीख़ें पंचाँग की तरह अनुमानित ढंग से खोली, देखी और विचारी जाती हैं। गोया एक ही बच्चा कई-कई तारीख़ों में पैदा हुआ हो। यह उस मूल महत्व को ही नष्ट करने की प्रक्रिया है जिसके भीतर से साल-गिरह की गाँठ पैदा होती है। एक बार फिर दिखावे में माँ-बाप और बच्चे के बीच प्रेम के स्पंदनों का रंग उतर जाता है और आयोजन केवल पैसे का दिखावा मात्र बन कर रह जाता है। इस दृश्य में किशोर मानसिकता को प्रौढ़ता के साथ तथा प्रौढ़ मानसिकता को कैशोर्य के साथ दिखाकर निर्देशक ने एक तीर से दो शिकार किये हैं। राजू किशोर है मगर तौलिये के लिए बेड व बाथ के बीच यूँ फुदकता है जैसे उसके शरीर पर लड़की की आँख पड़ते ही कुछ अवाँछित घट जायेगा जैसे प्रौढ़ इस दृश्य को कर रहा है। उधर अरुणा ईरानी है। प्रौढ़ स्त्री होते हुए भी उस किशोर को यूँ देखती है गोया अभी-अभी उम्र में सात के पहाड़े में दूसरा ही मुक़ाम आया हो। यह प्रौढ़ कैशोर्य न हास्य है, न प्रेम। न अश्लीलता है न वासना। सीधे-सीधे दर्शक की दृष्टि के कौमार्य की हत्या। अरुणा ईरानी जिस चरित्र को लेकर बॉबी में आयी हैं वहाँ पुरुष का शरीर कोई आकर्षण पैदा करता नहीं बल्कि रुपये-पैसे की तरह आने वाली चीज़ की तरह आता है। ऐसे में नीचे की मंज़िल में पार्टी और ऊपर के बेड रूम का एकान्त पहली मंजिल के भरपूर एकान्त में और भी सुनसान नज़र आता है ऐसे में। बाथरूम-तौलिया और प्रखर तथा मुखर संकोच पूरी संवेदना को बाज़ारू बना कर छोड़ते हैं।

पार्टी में बॉबी नामक लड़की का प्रवेश होता है। वह अपनी दादी के साथ राजू बाबा को बर्थडे की बधाई देने आयी है। बॉबी की दादी राजू के बाप की बतौर नौकरानी रह चुकी है— चाहे इस काम में राजू की परवरिश ही क्यों न की हो। सारे वातावरण को कुछ यूँ बनाया गया है जिसमें सब कुछ असहज लगे। दादी की गिफ्ट असहज, क्योंकि ग़रीब की भेंट अमीर के आयोजन का रस रंग भंग करती है। लड़की की ड्रेस असहज, पर वह गोवा की है तो चलेगा। लड़का अरुणा के आमंत्रण से क्षुब्ध है पर घुटने से ऊपर कपड़े पहने बॉबी पर मुग्ध है। मिस्टर

नाथ यानी प्राण पूरी फ़िल्म में कुछ इतने-तने हैं गोया सारी दुनिया उनके क़र्ज़ पर जी रही है तथा अपने परिवार का पालन-पोषण भी वे कुछ कृपा भाव से ही कर रहे हैं। माँ लगातार अनिर्णय में जी रही औरत है जो पति और पुत्र के बीच औरत के अर्थ को समझने की बजाय उसे ऊपरी मन से ढोने का काम करती है। ऐसे में वह हुआ जो होना था। अपमानित बॉबी दादी के साथ लौट जाती है और राजू का बॉबी के प्रति अतृप्त आकर्षण उसे उस वक्त के वातावरण से काटता है। और इसे चरम संवेदना का पुट देने के लिए अरुणा ईरानी का उपयोग और अनजान आकर्षण से रचे गीत "मैं शायर तो नहीं" का स्थूल प्रतिबिम्ब बॉबी के रूप में प्रयोग। इस दृश्य में बॉबी एक आकर्षण के रूप में प्रयुक्त 'मॉडल' लगती है। मॉडल से प्यार करने में कोई बुराई नहीं है पर मॉडल के उपयोग का यथार्थ यह है कि वह स्वयं में चाहे कितनी भी महत्वपूर्ण क्यों न हो अंततः उसका उपयोग केवल कोई और ही वस्तु बेचने के लिए किया जाता है। इस दृश्य में डिम्पल कापड़िया के अज्ञात शरीर की मासूमियत बॉबी नामक फ़िल्म बेचने (चलाने) की नीयत से इस्तेमाल की गई है इसीलिए 'बॉबी' उस दृश्य के लिए उन पात्रों के बीच 'अन्डर टोन' है जबकि हॉल में बैठे सजीव दर्शकों के लिए 'ओव्हर टोन'। यह मारक दृष्टि निर्देशकीय कौशल नहीं प्रतिशोध है। इसमें प्रेम की उपज एक नैसर्गिक प्रक्रिया की बजाय कारख़ाने का उत्पादन लगता है जहाँ जिस भाव, जिस क्वालिटी का प्यार चाहो उपलब्ध है। दृश्य के अंत में पिछली पार्टी की क्रूरता तथा उसके घाव को कुरेद कर एक बार फिर ताज़ा किया जाता है। वही गालकटी औरत फिर प्रस्तुत होती है। उसी दृश्य की निर्लज्जता को फिर बयान करती है और तब मिस्टर नाथ उसी आक्रामकता के साथ प्रकट होते हैं। तब उन्होंने बताया था कि राजू बच्चा है और उसे बाक़ायदा सज़ा दी थी। इस बार उन्होंने स्पष्ट किया कि राजू बच्चा नहीं है। जब राजू को उम्र का प्रमाण पत्र बड़े होने का मिला तभी यह बात साफ़ कर दी गयी कि अब वह अधेड़ उम्र की औरतों के साथ गाल काटने-कटाने लायक़ नहीं रहा अब उसे हमउम्र चाहिए।

जिस वक्त यह फ़िल्म लगी थी चार शो के नियमित ढाँचे में दर्शकों को समेट पाना मुश्किल हो रहा था। कुछ शहरों में छः शो चलाये गये। सवेरे 6 से 9, फिर 9 से 12 फिर उसके बाद नियमित नून, मैटिनी, इवनिंग तथा नाइट। सुबह 5 बजे लोग दातून दबाए सिनेमाघरों की टिकट की लाइनों में खड़े होने लगे। किसलिए— डिम्पल कापड़िया नामक लड़की को देखने के लिए? नहीं, क्योंकि सामान्य सुन्दर लड़की का अबूझ आकर्षण ठीक बॉबी जैसा, अक़्सर शहरों में उपलब्ध था। फिर क्या वाक़ई ऐसे बालिग़ दृश्य थे जिससे युवक फ़िल्म पर टूट पड़े। नहीं— ऐसा भी नहीं क्योंकि मलयालम से डब की गई फ़िल्मों में इससे भी अधिक वयस्क दृश्य थे/होते थे पर वे फ़िल्में भी मुँह में दातून दबाए दर्शक नहीं जुटा पाईं। इस फ़िल्म ने एक तरह का उत्पीड़न क़ायम किया। उत्तेजना जगाई ढेर सारी इच्छाओं

को उगाया-पनपाया और उन सबको अतृप्त छोड़कर फ़िल्म खत्म हो जाती है। तृप्ति का दुख राजकपूर **जोकर** में भोग चुके थे इसलिए **बॉबी** को अतृप्ति का ख़ज़ाना बना दिया।

राजू, बॉबी का पार्टी से बिना परिचय लिये-दिये चले जाना नहीं झेल पाया। उसे ढूँढने की फ़िक्र में अपनी आया (मिस्टर नाथ की नौकरानी) दुर्गा खोटे यानी मिसेज ब्रिगेंजा (गवर्नेस) के घर जा पहुँचता है। बेसन में सने हाथ लिये बॉबी राजू के सामने अपरिचय का आनंद लेती है— पर जान-पहचान का रहस्य खुलते ही खो जाती है और नर्गिस-राजकपूर की पहली मुलाक़ात की तर्ज़ पर बालों में ज़र्दी पोत लेती है। कुल मिलाकर प्रेम की बुनियाद पर परिचय परवान चढ़ता है। कढ़ाई में जलता तेल छोड़कर बॉबी-राजू के सामने गोवा के जिस लिबास में सामने आई है उसे स्वीकार-अस्वीकार करने के अपने-अपने तर्क हो सकते हैं मगर जलती कढ़ाई का तेल और भभकती भावनाओं का संवाद सब कुछ एक बार फिर अगले दृश्य के लिए परिपक्व करते हैं।

इसके बाद लड़के-लड़की के बीच, सहज होकर बेफ़िक्र हरकतें करने लायक़ सीक्वेंस फटाफट कर दी जाती है जिसमें रेस्तराँ, लाइब्रेरी, स्विमिंग पूल, बगीचे, सड़कें सब अपने-अपने रोल अदा करते हैं और दर्शक एक तरह से इंटरवल का मज़ा ले लेता है। फ़िल्मों में कई-कई इंटरवल राजकपूर की ही पेश-कश है। **बॉबी** में यूँ ही सही।

इसके बाद **बॉबी** का क्लाइमेक्स है। 'बॉबी' का क्लाइमेक्स का मतलब फ़िल्म का क्लाइमेक्स नहीं। क्योंकि मैं बताना चाहता हूँ कि यह फ़िल्म बॉबी नहीं कुछ और है। तो 'बॉबी' के क्लाइमेक्स में..., राजकपूर ने हल्के शब्दों के साथ लिखे गये गीत के माध्यम से डिम्पल कापड़िया के शरीर का इस्तेमाल बेहद बदमाशी की नज़र से किया है। बदमाशी रूढ़ अर्थों में अनुचित, अभद्र, अश्लील, ज़बरदस्ती, अनावश्यक, इत्यादि शब्दों का मिला-जुला भाव रखती है बस वही इस गीत के पीछे काम करता है। अक्सर कोई लड़की और अक्सर कोई लड़का, इस हाल और सोलहवें साल में जो कुछ कहते करते हैं, वह जिस निजता, और अपनेपन के साथ एक तरह की गोपनीयता चाहते है इस संवेदना के प्रस्तुतीकरण में जमकर उसकी छीछालेदर की गयी है ताकि प्रेम की उस पवित्र रसानुभूति का पल भर को भी न मौक़ा मिले वर्ना इस बॉबी का ताजमहल ढहते क्या समय लगता? सोलहवें साल की मख़मली अनुभूति को जिस प्रकार नागफनी के गमलों की तरह पेश किया गया है, प्रेम का क्रूर प्रयोग है, जिसे कम से कम आज भी स्थितियों के साथ स्वीकार कर पाना संभव नहीं है।

चूंकि **बॉबी** ने कैशोर्य प्रेमानुभूति की फुलझड़ी जला ली है इसलिए उसकी चकाचौंध आगे भी ज़ारी रखी जा सकती है— सरल भाव से और चूँकि **बॉबी** में नैतिक क़िस्म का ख़तरा भी नहीं है। यहाँ यह स्पष्ट करना ज़रूरी है कि **बॉबी** में नैतिकता को नकारने अथवा उसे छेड़ने-चिढ़ाने की बजाय उसकी शक़्ल ही बदल देने की चाल चली गयी है। एक तरह से नैतिकता के स्थापित होनी चाहिए की धारणा को

खारिज़ करके *होता है* को प्रमाणित तथा स्थापित किया गया है। यह उस तरह का नशा है कि पियो तो मरो न पियो तो गिरो। राजकपूर ने **बॉबी** को नशे की तरह पेश किया और लत की तरह भुनाया।

शुरू में हल्के पेग से इन्कार-झिझक के साथ चीज़ों को पेश किया गया और जब घूँट दर घूँट झिझक मिटी, बेशरमी चढ़ी तो लगने-लगी तमाम नैतिकता फ़िज़ूल और इस मानसिकता का इस्तेमाल एक लार्ज-नीट पेग बिना सोडे-पानी के, तेज़ नीली रोशनी के बीच किया गया— हाउस फुल सिनेमा है— कोरे-कोरे वापस लौटने से एतराज़ है। यह वह स्थिति है जैसे सिनेमा शराब हो और दर्शक-निर्देशक दो अजनबी शराबी। चढ़ गयी है तो अब सारे आवरण व्यर्थ हैं— खुल जाने में, नंगे हो जाने में न एतराज़ है न इनकार, न शर्म है न झिझक बल्कि एक तरह का बेग़ैरत अपनेपन का उद्बोधन है जो दो घूँट भीतर जाते ही उभरता है और नशा उतरते ही ग़ायब हो जाता है। तो फिर बेझिझक क्लब जाना, लड़की को न छेड़ना बदतमीज़ी है (नैतिकता को जिस बदमाशी से 'डेविएट' किया गया है— वह ग़लत को *ग्लोरीफाई* करने से भी बड़ा जुर्म है) जैसे वाक्य बुलवाना-सुनवाना, बड़ी औरत छोटा मर्द (उम्र में) के घटिया रिश्तों की बेपर्दगी, क्या कुछ नहीं गटागट गले में उतार दिया। इन दृश्यों में उस दुनिया का सस्ता ज़िक्र मँहगे ढंग से इस तरह किया गया है कि आप उसे पाने को तो ललचाएँ मगर बताने वाला साफ़-पाक निकल जाय और उसे स्वीकार करने के बाद आप अकेले हो जायें— सरल शब्दों में इसे धोखा कहते हैं, छल कहते हैं, कपट कहते हैं। घटिया को इस तरह पेश करना कि वह बढ़िया लगने लगे घटियापन है और इन दृश्यों में वही कुछ है।

इसी बीच कश्मीर के इस्तेमाल की ज़रूरत महसूस हुई और किशोरों के बीच बचकानी ग़लतफ़हमी पैदा करके गोवा से सीधे श्रीनगर पहुँचा दिया। यहाँ बार-बार प्यार सोने-चाँदी के साथ इनकार का रिश्ता लिये *प्रस्तुत* किया गया है। ग़ौर कीजिए— न माँगूं सोना चाँदी, जिस पलड़े में तुले मोहब्बत, उसमें चाँदी नहीं तौलना, प्यार में सौदा नहीं..... ऊपरी तौर पर ऐसा रंग-रोग़न नज़र आता है गोया यह अमीरी-ग़रीबी के बीच पनपे प्यार की कहानी है या वामपंथी नज़रिये की प्रेम कथा है पर ज़रा सा कुरेदिये रंगों का नक़लीपन साफ़ नज़र आयेगा। **बॉबी** के गीत स्वतंत्र रचनाएँ हैं। यह एक तरह का पैबन्द लगाने का काम है जिसे कुशल रफ़ूग़र के रूप में राजकपूर ने अंजाम दिया है। लेकिन चंचल द्वारा प्रस्तुत गीत में राजकपूर की रफ़ूगरी भी काम नहीं कर पायी।

डिम्पल कापड़िया का **बॉबी** में इस्तेमाल आदिम इच्छा के वहशीपन के उस कोण को नीला करने के लिए किया गया है जहाँ मर्द में अनछुए कौमार्य की इच्छा प्राकृतिक रूप में विद्यमान रहती है और राजकपूर उस इच्छा का शोषण करते नज़र आते हैं। बाहर से कोई अंदर या अंदर से कोई बाहर न आ सके, न जा सके— इस स्थूल असमर्थता अथवा अशक्यता को राजकपूर ने चवन्नी उछाल अंदाज़ में

को उगाया-पनपाया और उन सबको अतृप्त छोड़कर फ़िल्म खत्म हो जाती है। तृप्ति का दुख राजकपूर **जोकर** में भोग चुके थे इसलिए **बॉबी** को अतृप्ति का ख़ज़ाना बना दिया।

राजू, बॉबी का पार्टी से बिना परिचय लिये-दिये चले जाना नहीं झेल पाया। उसे ढूँढने की फ़िक्र में अपनी आया (मिस्टर नाथ की नौकरानी) दुर्गा खोटे यानी मिसेज ब्रिगेंजा (गवर्नेस) के घर जा पहुँचता है। बेसन में सने हाथ लिये बॉबी राजू के सामने अपरिचय का आनंद लेती है— पर जान-पहचान का रहस्य खुलते ही खो जाती है और नर्गिस-राजकपूर की पहली मुलाक़ात की तर्ज़ पर बालों में ज़र्दी पोत लेती है। कुल मिलाकर प्रेम की बुनियाद पर परिचय परवान चढ़ता है। कढ़ाई में जलता तेल छोड़कर बॉबी-राजू के सामने गोवा के जिस लिबास में सामने आई है उसे स्वीकार-अस्वीकार करने के अपने-अपने तर्क हो सकते हैं मगर जलती कढ़ाई का तेल और भभकती भावनाओं का संवाद सब कुछ एक बार फिर अगले दृश्य के लिए परिपक्व करते हैं।

इसके बाद लड़के-लड़की के बीच, सहज होकर बेफ़िक्र हरकतें करने लायक़ सीक्वेंस फटाफट कर दी जाती है जिसमें रेस्तराँ, लाइब्रेरी, स्विमिंग पूल, बगीचे, सड़कें सब अपने-अपने रोल अदा करते हैं और दर्शक एक तरह से इंटरवल का मज़ा ले लेता है। फ़िल्मों में कई-कई इंटरवल राजकपूर की ही पेश-कश है। **बॉबी** में यूँ ही सही।

इसके बाद **बॉबी** का क्लाइमेक्स है। 'बॉबी' का क्लाइमेक्स का मतलब फ़िल्म का क्लाइमेक्स नहीं। क्योंकि मैं बताना चाहता हूँ कि यह फ़िल्म बॉबी नहीं कुछ और है। तो 'बॉबी' के क्लाइमेक्स में..., राजकपूर ने हल्के शब्दों के साथ लिखे गये गीत के माध्यम से डिम्पल कापड़िया के शरीर का इस्तेमाल बेहद बदमाशी की नज़र से किया है। बदमाशी रूढ़ अर्थों में अनुचित, अभद्र, अश्लील, ज़बरदस्ती, अनावश्यक, इत्यादि शब्दों का मिला-जुला भाव रखती है बस वही इस गीत के पीछे काम करता है। अक्सर कोई लड़की और अक्सर कोई लड़का, इस हाल और सोलहवें साल में जो कुछ कहते करते हैं, वह जिस निजता, और अपनेपन के साथ एक तरह की गोपनीयता चाहते है इस संवेदना के प्रस्तुतीकरण में जमकर उसकी छीछालेदर की गयी है ताकि प्रेम की उस पवित्र रसानुभूति का पल भर को भी न मौक़ा मिले वर्ना इस बॉबी का ताजमहल ढहते क्या समय लगता? सोलहवें साल की मख़मली अनुभूति को जिस प्रकार नागफनी के गमलों की तरह पेश किया गया है, प्रेम का क्रूर प्रयोग है, जिसे कम से कम आज भी स्थितियों के साथ स्वीकार कर पाना संभव नहीं है।

चूंकि **बॉबी** ने कैशोर्य प्रेमानुभूति की फुलझड़ी जला ली है इसलिए उसकी चकाचौंध आगे भी ज़ारी रखी जा सकती है— सरल भाव से और चूँकि **बॉबी** में नैतिक क़िस्म का ख़तरा भी नहीं है। यहाँ यह स्पष्ट करना ज़रूरी है कि **बॉबी** में नैतिकता को नकारने अथवा उसे छेड़ने-चिढ़ाने की बजाय उसकी शक़्ल ही बदल देने की चाल चली गयी है। एक तरह से नैतिकता के स्थापित होनी चाहिए की धारणा को

ख़ारिज़ करके *होता है* को प्रमाणित तथा स्थापित किया गया है। यह उस तरह का नशा है कि पियो तो मरो न पियो तो गिरो। राजकपूर ने **बॉबी** को नशे की तरह पेश किया और लत की तरह भुनाया।

शुरू में हल्के पेग से इन्कार-झिझक के साथ चीज़ों को पेश किया गया और जब घूँट दर घूँट झिझक मिटी, बेशरमी चढ़ी तो लगने-लगी तमाम नैतिकता फ़िज़ूल और इस मानसिकता का इस्तेमाल एक लार्ज-नीट पेग बिना सोडे-पानी के, तेज़ नीली रोशनी के बीच किया गया— हाउस फुल सिनेमा है— कोरे-कोरे वापस लौटने से एतराज़ है। यह वह स्थिति है जैसे सिनेमा शराब हो और दर्शक-निर्देशक दो अजनबी शराबी। चढ़ गयी है तो अब सारे आवरण व्यर्थ हैं— खुल जाने में, नंगे हो जाने में न एतराज़ है न इनकार, न शर्म है न झिझक बल्कि एक तरह का बेग़ैरत अपनेपन का उद्बोधन है जो दो घूँट भीतर जाते ही उभरता है और नशा उतरते ही ग़ायब हो जाता है। तो फिर बेझिझक क्लब जाना, लड़की को न छेड़ना बदतमीज़ी है (नैतिकता को जिस बदमाशी से 'डेविएट' किया गया है— वह ग़लत को *ग्लोरीफाई* करने से भी बड़ा जुर्म है) जैसे वाक्य बुलवाना-सुनवाना, बड़ी औरत छोटा मर्द (उम्र में) के घटिया रिश्तों की बेपर्दगी, क्या कुछ नहीं गटागट गले में उतार दिया। इन दृश्यों में उस दुनिया का सस्ता ज़िक्र मँहगे ढंग से इस तरह किया गया है कि आप उसे पाने को तो ललचाएँ मगर बताने वाला साफ़-पाक निकल जाय और उसे स्वीकार करने के बाद आप अकेले हो जायें— सरल शब्दों में इसे धोखा कहते हैं, छल कहते हैं, कपट कहते हैं। घटिया को इस तरह पेश करना कि वह बढ़िया लगने लगे घटियापन है और इन दृश्यों में वही कुछ है।

इसी बीच कश्मीर के इस्तेमाल की ज़रूरत महसूस हुई और किशोरों के बीच बचकानी ग़लतफ़हमी पैदा करके गोवा से सीधे श्रीनगर पहुँचा दिया। यहाँ बार-बार प्यार सोने-चाँदी के साथ इनकार का रिश्ता लिये *प्रस्तुत* किया गया है। ग़ौर कीजिए— न माँगूँ सोना चाँदी, जिस पलड़े में तुले मोहब्बत, उसमें चाँदी नहीं तौलना, प्यार में सौदा नहीं..... ऊपरी तौर पर ऐसा रंग-रोग़न नज़र आता है गोया यह अमीरी-ग़रीबी के बीच पनपे प्यार की कहानी है या वामपंथी नज़रिये की प्रेम कथा है पर ज़रा सा कुरेदिये रंगों का नक़लीपन साफ़ नज़र आयेगा। **बॉबी** के गीत स्वतंत्र रचनाएँ हैं। यह एक तरह का पैबन्द लगाने का काम है जिसे कुशल रफ़ूगर के रूप में राजकपूर ने अंजाम दिया है। लेकिन चंचल द्वारा प्रस्तुत गीत में राजकपूर की रफ़ूगरी भी काम नहीं कर पायी।

डिम्पल कापड़िया का **बॉबी** में इस्तेमाल आदिम इच्छा के वहशीपन के उस कोण को नीला करने के लिए किया गया है जहाँ मर्द में अनछुए कौमार्य की इच्छा प्राकृतिक रूप में *विद्यमान* रहती है और राजकपूर उस इच्छा का शोषण करते नज़र आते हैं। बाहर से कोई अंदर या अंदर से कोई बाहर न आ सके, न जा सके— इस स्थूल असमर्थता अथवा अशक्यता को राजकपूर ने चवन्नी उछाल अंदाज़ में

अतिशयता बख़्शी है। एक दृश्य में शेर के सामने आ जाने की कल्पना में डिम्पल को यूँ प्रस्तुत किया गया जैसे शेर भी उस स्थिति में डिम्पल को खाने से एतराज़ करे और इनकार करके चला जाये। इस गीत में प्रेम के उस नैसर्गिक तत्व को खारिज कर दिया गया है जहाँ "अभी तो दिल में हल्की सी ख़लिश महसूस होती है— बहुत मुमकिन है कल इसका मोहब्बत नाम हो जाय" जैसे शेर रचे गये हैं। इसे एक दक़ियानूस ख़्याल मानकर आगे बढ़ जाने में आसानी तो है मगर इस सवाल से भागने का कोई कारण भी तो होगा— जहाँ चाबी खोने और बंद कमरे में होने की गुदगुदी तो है मगर शेर के सामने बॉबी का खुद को प्रस्तुत करने की बात भी है। क्या इस क़िस्से में राजू और शेर एक ही शै के दो नाम हैं?

नयी लड़की के अछूतेपन को आकर्षण का केन्द्र बिन्दु बनाने में कई सहूलियतें और फ़ायदे हैं जब कि ख़तरा एक ही है। जैसा चाहो दिखाओ कोई पुरानी छवि आड़े नहीं आती। अछूती अनजान लड़की को कई जुमलों से प्रचारित करो— "क्या शानदार अभिनय किया है!" "नयी लड़की ने किस दिलेरी से वयस्क सीन किये" इत्यादि। इसकी जिज्ञासा हर उम्र को निमंत्रण देने का काम करती है। ख़तरा है कि न चल पाये— शायद। यह ख़तरा तो है और निर्देशक ने उठाया भी है लेकिन अपनी क्षमता पर उनका भरोसा भी तो है। यह भरोसा और वह ख़तरा दोनों मिलकर मशीनों में पिस रही सामाजिक नैतिकता का कचूमर निकालने में भरपूर मदद करते हैं। जिसका भयावह स्वरूप **दिल** जैसी फ़िल्मों में उभरकर सामने आता है।

राजकपूर ने ऋषिकपूर और डिम्पल कापड़िया के बीच मिलने का नया-अंदाज़ विकसित किया है। वे मिलने से पूर्व ज़रा दूर-दूर दिखाये जाते हैं। कैमरा पहले उनके बीच की दूरी को पकड़ता है। दर्शक इसे रोड़े की तरह आत्मसात करता है। *जगह* का इस्तेमाल तथाकथित प्रेम को तीव्रतर अनुभूति में ज़गाने और उबाल पैदा करने में किया गया है। फिर लड़का दौड़ता है। लड़की दौड़ती है और एक आवेग पैदा करके आपस में चिपक जाते हैं। यह फ़िल्मांकन प्रेम की अनुभूति और उसके एहसास को क्रमशः भीतर तक उतरने की सरस प्रक्रिया को तोड़कर सीधे-सीधे एक दूसरे में समा जाने को आतुर अतिरेक का चित्रण नज़र आता है।

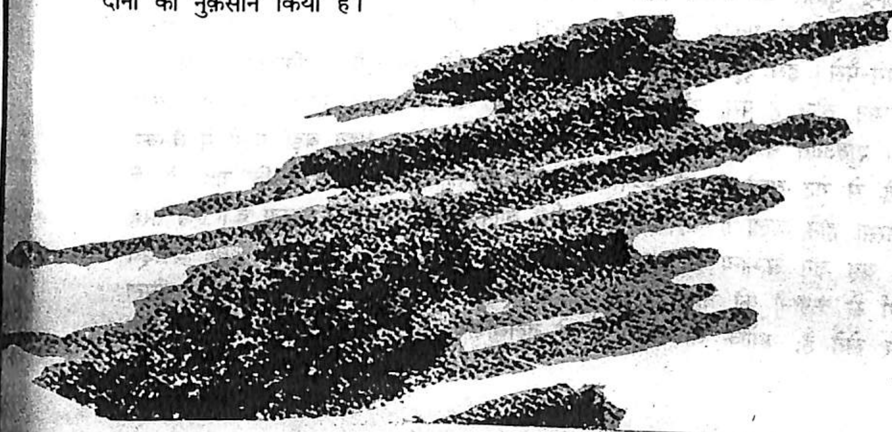
मिस्टर नाथ को जब पता चलता है कि राजू वास्तव में बॉबी से प्यार करने लगा है और राजू साहस के साथ यह स्वीकारता है, इस बीच संवादों का एक चुटीला सिलसिला है। जिसे सुनकर हर उम्र मज़ा ले सकती है पर उन संवादों की मार्फ़त सभी असमंजस में पड़ जाते हैं। यह असमंजस रचा गया है जानबूझकर- बच्चे अपनी आँखों से दुनिया देखना चाहते हैं— (बच्चे जो कुछ चाहते हैं वह सहज तो हो सकता है। होता है— पर सही ग़लत का फ़ैसला (जब तक कि वे बच्चे हैं) बड़ों की आँखों से ही होगा)। बच्चे जायदाद नहीं हैं— पर उम्मीद तो हैं। राजू-प्यार का स्वीकार, नाथ-प्यार की उम्र और अर्थ कुल मिलाकर इन दृश्यों में ऐसा असमंजस और भ्रम पैदा किया गया है जिसमें केवल नासमझ मज़ा है और क़िस्सा अक़्ल के बाहर निकाल दिया गया बेहद अक़्लमंदी से। एक बार उसे बड़ा

कहो जब वह बचपना करे, तभी उसे बच्चा बताओ जब वह *बड़ापन* दिखाये। इस प्रकार जब कर्म केवल प्रेम पर टिका हो तो वह अपने सम्पूर्ण रूप से ही बाहर हो गया।

बॉबी में प्यार फ़ुल-टाइम जॉब है। मिस्टर नाथ के पास पैसा है, खूब कमाते हैं— पर प्यार नहीं करते। राजू के पास प्यार ही प्यार है और कोई काम ही नहीं है। प्यार का निठल्लापन अकर्मण्यता का सम्मान है और काम को तैयार पीढ़ी के लिए यह सम्मान अफ़ीम का काम करती है। अतः इस फ़िल्म ने प्रेम की हत्या तो की ही की उसने देश के लिए काम करने वाली पूरी पीढ़ी को निठल्लेपन की नींद में सुलाने की साज़िश भी की और उन्हें अकर्मण्य ग़ैर-ज़िम्मेदार प्यार (आकर्षण) की आग में झोंकने का अपराध भी किया।

बॉबी और राजू के रिश्तों को लेकर मिस्टर नाथ और बॉबी के बाप के बीच जिस प्रकार के संवाद बोले गये हैं वे अपने चरित्र को चाहे जितना भी स्पष्ट करते हों पर कुछेक तो बेहद आपत्तिजनक हैं। जैसे अपनी इज़्ज़त का हवाला देते बॉबी के बाप को मिस्टर नाथ बताते हैं, "इज़्जत वाले अपनी बेटियों को करोड़पतियों के बेटों के सामने चारा बनाकर नहीं डाला करते!" इस वाक्य में मिस्टर नाथ की ज़ात तो साफ़ हो जाती है पर अनायास ही बॉबी अनावृत्त हो जाती है जो फ़िल्म से लेकर दर्शक तक स्वीकृत अच्छी किशोरी है। इस संवाद ने चीरहरण का काम किया है। इससे दर्शक की हमदर्दी बॉबी और उसके बाप तक तो पहुँच जाती है पर एक विकृति के साथ। जैसे किसी लड़की से बदतमीज़ी हुई हो और आप उस पर द्रवित हो जाएँ। जबकि यहाँ बॉबी को आवरण चाहिए था और मिस्टर नाथ को नंगा किया जाना चाहिए था। **बॉबी** में *होना चाहिए* को इसी तरह बार-बार खंडित करके 'है' को स्वीकृत कराया गया है।

बॉबी के आकर्षण में राजू का भटकाव इस फ़िल्म का मूल तत्व है। इस प्रकार कर्त्ता राजू, कर्म प्रेम और सम्वोधन बॉबी है। तो कर्त्ता तो राजू है— अतः फ़िल्म **बॉबी** तो हुई नहीं। बल्कि फ़िल्म राजू हुई। इस तथ्य और कथ्य के अंतर में प्रेम अपने मूल रूप में बचता ही नहीं तथा इसके सँवारने में जो कुछ और इस्तेमाल हुआ है उसने समाज के साथ घात किया है। इस तरह बॉबी ने प्रेम और समाज दोनों का नुक़सान किया है।



2
लव स्टोरी

बॉबी ने पैसा कमाने का जो रास्ता बनाया उसके माध्यम से और भी कई ठौर ठिकाने हासिल हुए। एक बड़े उद्योग की स्थापना से जिस तरह और भी छोटे-छोटे कई उद्योग आस-पास पनप उठते हैं ठीक उसी तरह एक फ़िल्म के सफल होते ही उसी तरह की और फ़िल्में धड़ाधड़ बाज़ार में आ जाती हैं। **बॉबी** पैसे के साथ-साथ लड़कों को हीरो बनाने का चलन भी ले आई। लड़कों को नायक के रूप में स्थापित करने में फ़िल्म उद्योग का कोई भला हो न हो पर व्यक्तिगत रूप से उन लड़कों तथा उनके अभिभावकों का ज़रूर लाभ हुआ। एक दुविधा से मुक्ति मिली। इसलिए "लव स्टोरी" की पर्दे पर प्रस्तुती दुहरी चाल है। बेटे को शोहरत मिलेगी तथा उसका कैरियर बनेगा और जेब में पैसे आयेंगे।

राजेन्द्र कुमार ने कुमार गौरव की स्थापना में विजेयता पंडित को इस्तेमाल किया, ठीक उसी ढर्रे पर जैसे **बॉबी** में राजकपूर ने डिम्पल कापड़िया को इस्तेमाल किया ऋषिकपूर के लिए। इन दोनों लड़कों की प्रस्तुति में ज़रूर दो नज़रिये सामने आये। राजकपूर ने **बॉबी** में पैसे को प्रमुख रखा पर **लव-स्टोरी** में राजेन्द्र कुमार ने बेटे कुमार गौरव को पैसे से पहले रखा। इस प्रकार लव स्टोरी ने कुछ नये तट तोड़े और आस-पास की काफ़ी उर्वरा मिट्टी बहा ले गयी।

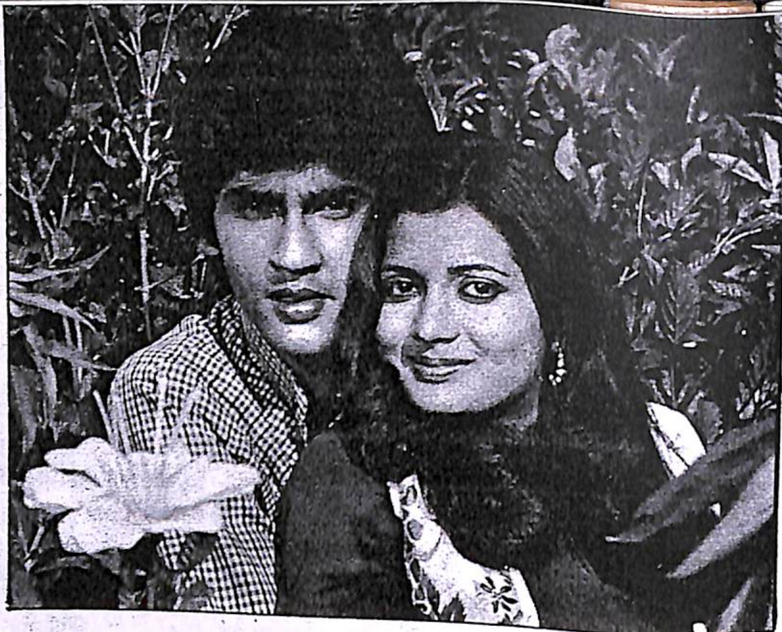
लव-स्टोरी का प्रारंभ बापों के अत्यन्त नक़ली क़िस्म के टकराव से शुरू होता है जिसके बीच एक लड़की न जाने क्यों बिला वजह सिसकती रहती है। वास्तव में राजेन्द्र कुमार की प्रेयसी विद्या सिन्हा अपने पूर्व परिचित डैनी की वजह से राजेन्द्र कुमार द्वारा ही प्रताड़ित होती है। कारण बड़े भौतिक क़िस्म के हैं— यानी ईंटगारे, रुपये-पैसे। इस शुरुआत से यह स्पष्ट होता है कि प्रेम वगैरह दक़ियानूसी चीज़ें हैं। असल चीज़ है पैसा और उसके लिए किसी भी सीमा तक पतित हुआ जा सकता है। शुरुआत में ही राजेन्द्र कुमार और विद्या सिन्हा एक बहुत बड़ी गाड़ी में बैठकर बड़े से गेट वाले घर में प्रवेश करते हैं। इसका मतलब साफ़ है कि यह जो भी क़िस्सा होने वाला है वह समाज के पैसे वाले वर्ग से ताल्लुक रखता है। एक तरह से यह जन सामान्य से कथा को काटने की कोशिश है और दूसरी तरफ़ धनाढ्य वर्ग से कहानी को जोड़कर कुछ नैतिक मूल्यों से फिसलने की आसानी भी हासिल कर लेते हैं; क्योंकि जो समर्थ है वो तुलसीदास के कथनानुसार सारे दोषों से मुक्त

हैं (समरथ को नहिं दोष गोसाईं)। कुल मिलाकर मुद्दा यह कि अगर आप को उन दृश्यों से कहीं एतराज़ है तो उसे सामान्य मध्यमवर्गीय चिन्ता और लिजलिज़ी नैतिकता के नाम पर ख़ारिज भी किया जा सकता है और चूँकि उच्च वर्ग सामान्यतया सामाजिक रूढ़ियों को जूते की नोक पर रखता है, इसलिए कुछ नापसंद आने वाली नैतिकताओं को भी वह अस्वीकारता चलता है। इसलिए बड़ी गाड़ी, बड़ा दरवारूज़ा, बड़ा मकान और बड़ी हरकतों के साथ फ़िल्म छोटे ढंग से आगे बढ़ती है तो पता चलता है कि विजय (राजेन्द्र कुमार) एक आर्किटेक्ट हैं जो मकान, पुल वग़ैरह बनाते हैं और विद्या सिन्हा को होने वाली पत्नी के रूप में साथ लिए घूमते हैं, किन्तु अचानक राम (डैनी) के दृश्य में उपस्थित होते ही अपना आपा खो बैठते हैं। उनकी प्रेयसी राम को जानती है और राम कुछ और नहीं मिस्टर विजय के किये गये काम की जाँच पड़ताल करने वाला इंजीनियर है। इस पूरे दृश्य में लड़की का किसी लड़के से पूर्व परिचय मात्र ही मिस्टर विजय की ईर्ष्या का आधार बन जाता है। इन दृश्यों में अतिरंजना भरने के लिए ख़ामख़्वाह का ड्रामा रिश्वत देने-लेने से इंकार वग़ैरह रखा जाता है ताकि संवेदनाओं की अतिशयता के दो छोर स्पष्ट रूप से बनाये जा सकें। जिसके बीच ड्रामे को नाटकीय अंदाज़ में दिखाया जा सके। स्त्री के प्रति क्रूर संवेदनाओं को लाता हुआ दृश्य जिसमें विजय अपनी प्रेयसी से दूर बैठे राम को चाँटा मारने के लिए उकसाता है। तथा एक अन्य दृश्य में पास बैठी प्रेमिका के सामने ही किसी अन्य लड़की से शादी की सहमति टेलीफ़ोन पर उसके बाप को देता है। इन दो दृश्यों के माध्यम से संवेदनात्मक अनुभूतियों और सहिष्णुता पर आक्रामक भाव पैदा किया जाता है जिससे नैतिक मान्यताओं को ख़ारिज किया ही गया है। साथ ही साथ उसे सामान्य सामाजिक व्यवहार में भी क्रूर कर्म ही माना जायेगा; क्योंकि आहत करने वाले इंकार को भी प्रस्तुत करने के लिए कई-कई तरह के शालीन तरीक़े मौजूद हैं, परन्तु अतिरंजना और अहंकार के साथ-साथ अनावश्यक क्रूरता को दर्शक के मन तक पहुँचाने के लिए जितना भी जल्दी संभव था राजेन्द्र कुमार ने कर डाला।

और चूँकि राजेन्द्र कुमार और डैनी बड़े होकर लड़के तथा लड़की के बाप बनाये जाने वाले हैं अतः नफ़रत की बुनियाद तैयार कर ली गयी ताकि प्रेम की एक छोटी सी भी ईंट इस पर अलग से दिखे और इस पर खड़ा होने वाला कोई भी मकान अपने आप को सुरक्षित न समझे। इस बीच राजेन्द्र कुमार बीना को और डैनी राजेन्द्र कुमार द्वारा आहत अपमानित विद्या सिन्हा को ब्याह लेते हैं और लड़के तथा लड़की के माँ-बाप के रूप में प्रौढ़ हो जाते हैं। यहाँ पर प्रौढ़ता दरअसल बढ़ती क्रूरता का क़िस्सा है। क्योंकि अपने चेहरे, मोहरे, हाव-भाव तथा अपने व्यवहार से वे चारों पहले ही प्रौढ़ कुँवारों की तरह ही प्रस्तुत किये गये थे। इस तरह जब कुमार गौरव और विजेयता पंडित किशोर के रूप में पर्दे पर प्रस्तुत किये ज़ाते हैं तो वे उम्र के दो छोरों पर खड़े युगल नज़र आते हैं और किशोर वय प्रेम प्रौढ़ोत्तर प्रेम के मुकाबले ख़ासा बचकाना नज़र आता है।

बच्चा से बड़ा होता हुआ कुमार गौरव पल भर का भी समय नहीं लेता। यानी सीधे-सीधे हवाई जहाज़ चलाता हुआ एक लड़का पर्दे पर अवतरित होता है। जिसे सांकेतिक रूप से यह भी कहा जाता है कि अब रफ़्तार पैदल, बैलगाड़ी, साईकिल या कार से बाहर निकल चुकी है। और अब जो भी किस्सा होगा वह तेज़ रफ़्तार से दौड़ेगा। इस तरह संवेदनाओं और अनुभूतियों के छोटे-छोटे पर बेहद प्यारे-प्यारे क्षण तेज़ रफ़्तार में गुम हो जाते हैं और आपको आहट भी नहीं मिलती। हवाई जहाज़ की इस उड़ान में केवल तेज़ रफ़्तार ही नहीं बल्कि एक तरह उत्पीड़न भी है जो अब बारीक़ी से उस ख़्याल में चलता है जिसे हवाई जहाज़ के ज़रिये कुमार गौरव खेलता है। उस दृश्य में हवाई जहाज़ को बकरियों के झुण्ड के ऊपर बहुत करीब तक लाकर उन्हें छेड़ना और फिर उड़ जाना है। यानी उन निरीह बकरियों के माध्यम से यह खेलने की मानसिकता केवल आनन्द मात्र के लिए हो तो यह एक ऐसा कर्म है जिसे आप अपने मज़े के लिए किसी की निरीहता को उसकी भावनाओं का आदर किये बिना इस्तेमाल करते हैं। बकरी, भेड़ अपने झुंड में खूब आनन्दित रहते हैं और उन पर बहुत क़रीब आता हुआ हवाई जहाज़ एक तरह की आफ़त की तरह नज़र आता है जिसकी अनुभूति उस पायलेट को नहीं होती। इस बारीक़ मुद्दे को छेड़ना इसलिए ज़रूरी नहीं है कि यह कोई वन्य-जीव संरक्षण पर उपदेश देने का आयोजन है। बकरा-बकरी को भोजन के रूप में स्वीकार करने के बाद इस तरह की दलील वैसे ही बेकार हो जाती है। मगर इस घटना को रेखांकित करने की आवश्यकता है। वह इसलिए कि इसके माध्यम से जवान होते बच्चे की इस मानसिकता को रेखांकित किया जा सके, जहाँ वह अपने आनन्द और अपनी रुचि के लिए किसी भी तरह की छेड़छाड़ कर सकता है चाहे उसका असर दूसरे पर उग्र अथवा कटु ही क्यों न पड़ता हो। उधर ठीक अगले दृश्य में लड़के का बाप लड़के की एक उद्घाटन के लिए ठीक समय पर प्रतीक्षा कर रहा है। यहाँ बाप लड़के की आदतों से एक तरह की अनभिज्ञता जताता है जैसे उसे यह पता ही न हो कि उसका लड़का लेट-लतीफ़ है। दूसरी ओर लड़का बाक़ायदा दो घण्टे देर से इस तरह आता है जैसे उसकी देर से काम करने की आदत हो। बाप अच्छी तरह जानता हो। इस कथा-क्रम में बाप बेटे के बीच जिस तरह से अंजनबीपन को दबाया गया है वही इस तथ्य को उभारता भी है। यद्यपि पैसे के लिए व्यस्त बाप के पास बेटे के लिए कम समय होता होगा, लेकिन इस तथ्य को चूँकि अतिरिक्त खुलेपन और लाड़-प्यार से दबाया गया है वह पैबंद छुपाने की बजाय खोलता है। फिर इस कसक को दबाकर **लव स्टोरी** को अंडर-टोन रखा गया है। श्रीमान् कुमार गौरव अपनी घड़ी बाक़ायदा दो घंटे पीछे रखते हुए इस शान से आते हैं गोया दो घण्टे और दो मिनट एक जैसे ही हैं। उधर पिताश्री भी उनका इंतज़ार दो घण्टे करते हैं ताकि बेटे महोदय को अपनी घड़ी दो घण्टे पीछे घुमाने का समय मिल जाये। आमने-सामने होने के बाद गिले-शिकवे और स्वीकृति और अनुभूति के बीच जिस प्रकार की संकोचहीनता प्रस्तुत की गयी है वह कुल मिलाकर बाप-बेटे

के बीच दोस्ताना क़िस्म के रिश्ते की महक पैदा करती है। दर्शक इस खुशबू को महसूस कर फ़िल्म के शेष प्रसंग को देखता है तो बाद की घटनाएँ सहज स्वीकार्य लगेंगी। किन्तु बाप-बेटे के बीच एक तरह के अघोषित आदर अनुग्रह के रिश्ते चूँकि आज तक आउट ऑफ़ फ़ैशन नहीं हुए हैं। इसलिए आज से दस साल पहले तो ऐसा सोचना भी उचित नहीं लगता। इस तरह के रिश्ते होते हैं, हो सकते हैं, होने की संभावना भी है। लेकिन वे तीन आँख के बच्चे की तरह असामान्य हैं जिसे अभी सहज सामाजिक स्वीकृति मिलना शेष है। ऐसे में बेटा उद्घाटन वाले फ़ीते को क़ैंची के बजाय चाकू से काट देता है तो आप मानकर चलिए कि वह केवल किशोर बच्चा ही नहीं किशोर वयस्क है और वह वहाँ खड़ा है जहाँ से आप उसको उसी के चश्मे से देख सकते हैं और मान कर चलिये कि आप के फ़्रेम में फिट होने वाला काँच वह नहीं है। यद्यपि फ़ीते को चाकू से काटना क़ैंची से काटने की अपेक्षा असहज और अशालीन कार्य है। तो भी उसका इस्तेमाल रूढ़ियों के ख़िलाफ़ बग़ावत के रूप में किया गया नज़र आता है। यहाँ पर एक एतराज़ दर्ज करना आवश्यक है कि प्रगति के नाम पर स्थापित मूल्यों की केवल बदलाव के नाम पर क्या हत्या आवश्यक है। यहाँ तक कि बदलाव के नाम पर अनावश्यक और असहज ही स्वीकार कर लिया जाता है। इस बात में कौन सी मूँछ ऊँची होती है कि वक़्त की रफ़तार से दो घण्टे पीछे चलकर भी आप हेकड़ी में यह जता रहे हैं जैसे आप समय से सदियों आगे निकल गये हैं। यहाँ यह संवाद "डैड, मैं अपनी ज़िन्दगी अपनी घड़ी से चलाना चाहता हूँ।" यहाँ डैड-डैड नज़र आते हैं। यह निरुत्तरता केवल किशोर को ग्लोरीफाई करने की वजह से पैदा होती है। वरना कोई आशा नहीं थी कि संवाद लेखक से लेकर निर्देशक और अभिनेता तक संवाद के इस घटिया प्रयोग पर चुप हो जाएँ। अब भला इस बात में क्या रखा है कि बेटा महोदय दो-दो घण्टे देर से चलकर क़ैंची की बजाय चाकू से टेप काटकर अपनी ज़िन्दगी कभी हवाई जहाज़ तो कभी मछली के हवाले कर देते हैं। इतनी सारी परिस्थितियों पर लड़के का विचार रेखांकित करना और सिनेमा में पेश करने का मतलब यही है कि आप इस संघर्ष को संभावनाओं के तराजू में तौलें और इसका जो भी ग्राफ़ बने उससे सहमत हों। मछली पकड़ते हुए कुमार गौरव को अब एक अदद हम उम्र लड़की ज़रूरत पड़ी। इसलिए विजेयता पंडित के रूप में यह कमी पूरी की गयी। बेझिझक और बिना देर किये इस पहली मुलाक़ात में छेड़-छाड़ के लिए हॉर्न का इस्तेमाल किया गया। ठीक गुब्बारे की शक्ल वाला ट्रेडीशनल हॉर्न। इस प्रस्तुति में किस नैसर्गिक इच्छा का इस्तेमाल किया गया है। यह ढूँढना तो दर्शक का काम नहीं है। लेकिन छेड़-छाड़ के लिए हॉर्न और उस पर प्रतिक्रिया के लिए चाकू गर्दन के पास घुमाने तथा हॉर्न के गुब्बारे को चाकू से छेद देना **बॉबी** के बाद का क़दम है। जिससे यह ज़ाहिर होता है कि प्रेम अब गुब्बारे और चाकू के रिश्तों के बीच से पैदा होने वाला है, एवं **लव स्टोरी** की वास्तविक बुनियाद एक अद चाकू और गुब्बारे वाला हॉर्न है। यहाँ से आगे बढ़ते



ही सामान्य क़िस्म की संवेदनहीनता और संवादहीनता का नाश्ता परोस कर निर्देशक आराम की मुद्रा अपना लेता है और इस शून्य समय मे मोटर साइकिल की हवा निकालना, प्लास्टिक के साँप छोड़ना, चप्पल देखना-दिखाना, गाना-गाना वग़ैरह दिखा दिया जाता है। फिर आता है पहाड़ और हीरोइन ·अपनी सहेलियों के साथ उस पर चढ़ने वाली है। जिसके मार्फ़त यह बताया जाता है कि लड़की बाप की बेहद लाड़ली है जैसा कि अब तक बताया गया है कि लड़का भी बाप कक लाड़ला है। कुल मिलाकर यह अति-लाड़लेपन के बीच पैदा हुई किशोरों की वह कहानी है, जो परस्पर व्यर्थ की नफ़रत वाले बैकग्राउन्ड में जीते हैं।

जिस वक़्त पिंकी (विजेयता पंडित) पहाड़ पर चढ़ने जाती है उसके हमजोली उसे इस बात के लिए छेड़ते हैं कि अभी उसका बाप आयेगा और लड़की की ख़ैर-ख़बर लेगा। बाप वाक़ई प्रकट होते हैं और बड़ी चिन्ता करते हैं। जबाव में लड़की जबाव देती है "आई एम फ़्रेड अप पापा।" आज तो क्या 1980 में भी, जबकि यह फ़िल्म पर्दे पर आई थी यह कोई उचित नहीं कहेगा कि कोई बाप अपने बच्चों की इस अतिशयता से चिन्ता करेगा कि वह अपने स्वतंत्र विकास की प्रक्रिया से ही अलग हो जाये। किन्तु फिर भी बाप के लिए इस तरह की चिन्ता करने को पूरी तरह कोई घटिया काम तो नहीं कहा जा सकता। लेकिन बाप की इस चिन्ता को बेटी द्वारा "आई एम फ़्रेड अप" जैसी टिप्पणी तो बिल्कुल ही अशालीन क़िस्म की कही जायेगी। इसका दूसरा पहलू यह भी है कि सयानी होती हुई लड़की जब बहुत तरह से जीने की ललक पालने लगती है उस वक़्त उसे बाप क़िस्म के आदमी की सरपरस्ती से चिढ़ होने लगती है और ऐसी स्थिति में हमारा जो दिल करेगा उसे खाऊंगी जो दिल कहेगा वो करूँगी, जैसी बातें मन में उठने लगती हैं। उसके बाद एक प्रसंग शादी ब्याह का भी है जहाँ बाप लड़की के लिए लड़का प्रस्तुत करता है। बाप घर जमाई चाहता है और लड़की उसे जोरू का गुलाम मानती है।

इन दोनों मानसिकताओं में कोई सैद्धांतिक मतभेद नहीं है। यह केवल अपनी-अपनी उम्र की माँग है जो हमें किन्हीं सीमाओं तक स्वार्थी बना देती है लेकिन इस प्रसंग को दोनों पक्षों ने जिस तरह प्रस्तुत किया है उसमें हठधर्मिता, गुस्ताख़ी अशालीनता और स्वार्थ सब एक साथ नज़र आते हैं जो बाप बेटी के बीच सहज ढंग से पनपने वाले प्रेम को ही कुतर देते हैं तो फिर इस ज़मीन पर खड़ा होने वाला प्रेम किस तरह सहज और संवेदनशील हो सकता है? लेकिन यह फ़िल्मों के अतिरंजित चरित्र की अतिशयता का ही प्रदर्शन है। बाप ने सीधे-साधे हुक्म ज़ारी कर दिया—'लड़का कल देखने आ रहा है।' यहाँ से लड़की का पलायन शुरू होता है और इसे परिभाषित करने के लिए हर उम्र के अपने अलग-अलग दृष्टिकोण होंगे और अलग-अलग मान्यताएँ होंगी। बुज़ुर्ग लोग इस क़दम को लड़की का बचपना कहेंगे और प्रौढ़ लोग इसे किशोरों की नादानी और कई किशोर इसे समाज से बग़ावत की तरह स्वीकार करेंगे। यही तीनों स्थितियाँ इस ड्रामे को जन्म देती है जो पर्दे पर और नाटकीय लगता है और उससे भी अधिक चमकदार रंग से दर्शक के मन में असर डालता है। यह एक नुस्ख़ा बनकर ट्रेडमार्क सहित बाजार में बिकने लगता है। यानी की बाप की अच्छी भली राय भी किशोर ठेंगे पर रखता है और घर की चहार-दीवारी को लात मारकर दुनिया में भटकने को जीवन का संघर्ष समझ लेता है। दूसरी ओर कुमार गौरव यानी हीरो बन्टी इसी तरह की स्थिति में घर छोड़कर भाग लेता है। ग़ौर करने लायक़ बात यह है कि दोनों ही किशोर युगल एक ही मनः स्थिति के साथ घर छोड़ते दिखाये गये हैं जो संवेदनात्मक रूप से एक दूसरे के क़रीब लाने की ठीक उसी तरह की चाल है जैसे बहेलिया दाना फेंक कर जाल फैला देता है और सीधे-सादे पंछी उसमें आ फँसते हैं मगर यह समझौता केवल प्रदर्शन तक ही सीमित है तो विशेष एतराज़ का सवाल नहीं उठता लेकिन अगर यह लड़के-लड़की के संपर्क सूत्रों को दर्शक के सामने जाल फेंकने जैसी स्थिति निर्मित करता है तो एतराज़ की वजह बनती है। विद्रोह का चेहरा लगाये मोटर साइकल पर सवार बन्टी रास्ते में लेटी पड़ी लड़की को देखकर रुक जाता है और लड़की उसे रिवाल्वर दिखाकर लड़के से मोटर साइकल छीनकर भाग जाती है। यह स्थिति मानवीय संवेदनाओं की हत्या है या उसे कुँए में ढकेलने का कर्म क्योंकि बन्टी का लड़की को देखकर रुक जाना सहज मानवीय कर्म है और लड़की चूँकि कोई चोर, डकैत या खलनायिका नहीं है, उसे फ़िल्म की नायिका के साथ-साथ एक अच्छी लड़की के रूप में प्रस्तुत किया गया है तो फिर पिस्तौल की नोक पर लड़की द्वारा मोटर साइकल का अपहरण एक तरह की उल्टी सीख देती है कि आज के ज़माने में किसी दीन दुखियारे की सहायता के लिए रास्ते में मत रुको क्योंकि हो सकता है कि वह कोई चोर, लुटेरा हो। इसका असर और इन जैसी स्थितियों में अन्य फ़िल्मों से आया हुआ असर भी आजकल समाज पर असर कर रहा है। एक तो वैसे ही मानव मूल्य दिन-ब-दिन गिर रहे हैं और उस पर इन जैसी फ़िल्मों का यह धारदार असर उन्हें और पतनोन्मुखी कर रहा है। इसके चलते

आदमी-आदमी के बीच सहज भाव से पैदा होने वाला प्रेम, शक़ और डर के मारे अंकुरण से पहले ही सड़-गल जाता है और इस तरह यह फ़िल्म प्रेम की बुनियादी विश्वास की ही जड़ खोदती है और इसके बाद लड़की का भागना लड़के का पीछा करना केवल मोटर साइकल मात्र के लिए न होकर बदला लेने की मनः स्थिति निर्मित करता है और यह मनोभाव प्रेम की रही सही संभावना को भी नष्ट कर चुका है, लेकिन निर्माता निर्देशक तय कर चुका है कि वह प्रेम फ़िल्म बनायेगा और बिना बनाये चैन नहीं लेगा। इसलिए नाबालिग़ लड़के-लड़की को मोटर सायकल पर भगायेगा पुलिस में रिपोर्ट लिखवायेगा और पुलिस बाक़ायदा लड़के-लड़की को एक ही हथकड़ी में बाँधेगी, नैतिकता की किस किताब में यह जायज़ है? लड़के-लड़की की शादी माँ-बाप तय करते हैं तो कोई गुनाह नहीं और अगर लड़का-लड़की खुद ऐसा करें तो पुलिस का केस बनता है। ऐसे हाल में पुलिस भी उन्हें एक ही हथकड़ी में बाँध देती है। यह हथकड़ियों की कमी का कमाल है या निर्देशक का दर्शक की बुद्धि पर इतना ही भरोसा है। ख़ैर, हथकड़ी काटने के नाम पर वे दोनों बहुत देर और बहुत दूर तक साथ चलते हैं। कहावत है कि बहुत देर साथ रहने पर सुअर के बच्चे और आदमी के बीच भी एक एक रिश्ता क़ायम हो जाता है। ये किशोर तो बेचारे आदमी ही हैं। इस बीच जंगल झाड़ियों से गुज़रते हुए एक काँटा विजेयता पंडित के पीठ में चुभता है जिसे कुमार गौरव झिझक के साथ निकालते हैं। जो ठीक इसके विपरीत का भाव पैदा करते हुए दर्शक तक पहुँचती है। जंगल झाड़ियों के बीच से गुज़रते हुए कांटा पीठ में चुभ जाना असंभव नहीं है और इन स्थितियों में ऐसे काँटे का इस तरह निकालना भी अनुचित नहीं कहा जा सकता किन्तु फ़िल्म में अनायास उभर आया दृश्य संयोग नहीं है। फ़िल्म के एक-एक फ़्रेम में दिखाई गयी एक-एक चीज़ निर्देशक की ज़रूरत और अंत तक दर्शक की विवशता बनती है। उन हालात में स्वाभाविकता और यथार्थ के बीच एक रिश्ता चुनना पड़ेगा। इस फ़िल्म में दूसरी स्थिति का निर्देशक द्वारा विशिष्ट क़ोण से किया गया प्रयोग आख़िरकार काँटे की ही तरह अल्पज्ञ आँखों तक पहुँचता है और वे इस चुभन को मीठी टीस की तरह स्वीकार करती हैं जो **बॉबी** के धीमे ज़हर की अगली कड़ी है। इन दृश्यों को हास्य और प्रौढ़ मन के वात्सल्य से इस तरह सींचा गया है कि यह सहज भाव ही उस उस चिलमन का काम करता है जिसके पीछे से झाँकने पर सामान्य-सा आकर्षण विशिष्ट-सा लगता है और वह खींचकर गुनाह के लिए प्रेरित करता है जिसे करने का मन इस उम्र में ज़रूरत की तरह होता है। अमजद ख़ान ने इन दृश्यों में *लुड़का-लुड़की* बोलते हुए इसी काम को अंजाम दिया है। पुलिस को किशोर युगल हथकड़ी में बँधे मिलते हैं। एक दूसरे को छूते हैं और उस मुलायम स्पर्श को पथरीले आयाम देते हैं, जिसके चलते पत्थर मोम के रिश्ते बन जाते हैं, इसके बाद भूख, प्यास और रोटी, पानी की तरह मुस्कुराहटों का आदान-प्रदान होता है और यूँ प्यार परवान चढ़ाया जाता है। ऐसे में इस किशोर युगल को गुण्डों के सामने पेश किया जाता है और निहायत

ही घटिया संवाद दर्शकों के सिर पर फोड़ दिया जाता है। "तो पहले इस मक्खन को मलाई से अलग तो करो" जैसा कि हमने कहा स्वाभाविकता के नाम पर अनायास दृश्यों से बनने के बजाय फ़िल्म एक सायास कर्म है अतः ऐसे संवादों को घटिया करने के साथ-साथ इसकी प्रस्तुति, इसका संप्रेषण और इसका निर्देशन भी घटिया काम है। **लव स्टोरी** का यह सारा घटिया कर्म इस सफाई के साथ किया गया है कि आप इस नीचता को सहज स्वीकारते जायें। इस बीच घूँसे-बाज़ी फ़िकरेबाज़ी, डायलाग बाज़ी इत्यादि होता है, और बीच-बीच में गीत-संगीत, मारधाड़ कर कराकर नये मनोभाव के लिए ज़मीन तैयार की जाती है। लड़के-लड़की के सपनों की दुनिया के नाम पर खूबसूरत पहाड़ी पर एक घर और दो आदमी देखने में आते हैं। ऐसा लगता है कि जगह, फूल-पौधे, जमीन-आसमान, झरना-पहाड़, सामान की तरह इस्तेमाल किये गये हैं। ऐसी फ़िल्मों में प्रेम की व्यापकता सीमित करने के लिए और यह सब प्रेम के यंत्र के रूप में सामने आते हैं। उसकी नैसर्गिकता को नष्ट करके उसको फ़ैब्रिकेट करते हैं।

बाप लोग बच्चा लोग को ढूँढ़ने निकलते हैं और बीच में औरत लोग आकर पुरानी बासी कहानी को ताज़ा रंग देते हैं ताकि वर्तमान कहानी से ऊब आने लगी हो तो ज़ायका बदलें। ड्रामे की यहाँ ख़ासी गुंजाइश है। भरपूर इस्तेमाल भी किया गया है। पुराने जख़्म कुरेदने के नाम पर राजेन्द्र कुमार और विद्या सिन्हा के बीच संवादों का मर्यादित प्रयोग होता है। इसी बीच डैनी की एन्ट्री घातक ढंग से होती है। कहते हैं कि समय दुख, निराशा, अपमान वगैरह को धो डालता है। शुरू के दृश्यों में ऐसे कुछ घातक अपमान दिखाये भी नहीं गए जो डैनी को इस हद तक आहत कर दे कि उनका चरित्र ही अलग हो जाये और एक ईमानदार सहज व्यक्ति अचानक बेहद क्रूर और असहिष्णु हो जाये। जो अपनी बीवी को साफ़-साफ़ कह दे कि सोचना तुम्हारा काम नहीं है और क्या विद्या सिन्हा की स्थिति राजेन्द्र कुमार और डैनी के बीच केवल रोने मात्र की ही है?

सहज सहनशीलता क्रूर स्वीकार बन जाती है जो अन्ततः दर्शक को ऐसी स्थितियों को आत्मसात करने के लिये मजबूर करती है। इस प्रौढ़ एपीसोड के बाद किशोर युगल को घर गृहस्थी के बीच आने वाली कठिनाईयों से खिलवाड़ करते दिखाया गया है। यह एक वयस्क दृष्टि का निर्माण करने के बजाय उन्हें कमज़ोर करने की चाल नज़र आती है। बाद में जंगल की लकड़ी काटते हाथों में छाले पड़ना और लकड़ी के घर में *माउथ-ऑरगन* बजाने जैसा काम करके समय काटना दिखाया गया है। अन्ततः दोनों बाप एक ऐसी पुलिया पर अपनी-अपनी जीपों पर सवार आमने-सामने दिखाये जाते हैं जिसमें एक का बीच से हटना आवश्यक है। ऐसे में मग़रूर और अभद्र राजेन्द्र कुमार वापस हो लेते हैं। इस चरित्र परिवर्तन की कोई विशेष मनोवैज्ञानिक पृष्ठ भूमि नहीं है और एक बेटे का बाप होने की वजह से जो सामाजिक रुतबा मिलता है और जैसा कि शुरू के चरित्र में उन्हें दिखाया गया था उन्हें और भी मग़रूर हो जाना चाहिए था। लेकिन इस समय अति विनम्र नज़र आते हैं तो लगता

है कि जानबूझकर विनम्रता बेटे के बाप के रुप में उन पर थोपी गयी है ताकि चरित्र की अतिरंजना के दूसरे पहलू को सामाजिक आदर्श के रूप में दिखाया जा सके और दर्शक क्रूर स्थितियों को बेटे के बाप के पक्ष में स्वीकार कर ले। यह दूसरी तरह की चाल है। इसी स्थिति के विपरीत लड़की का बाप विनम्र डैनी सहज स्वाभाविक था और विनम्र होता जाता, बेहद कटु भाषी असहिष्णु हो गया है जिसे बेटी का बाप होने के बावजूद इस तरह का बताकर समाज में बेटी के रुतबे को आदर्श कर देने की नाटकीय कोशिश नज़र आती है।

कैसा तेरा प्यार कैसा गुस्सा है तेरा, गीत के फ़िल्मांकन में किशोर युगल वयस्क व्यवहार दिखाते हैं। लड़की के मकान में बढ़िया बाथटब दिखाकर वयस्क व्यवहार की पराकोष्ठा को अंजाम दिया जाता है और कमाल यह है कि इन सब के बाद उनके अन्दर शादी का ख़्याल आता है। इस प्रस्ताव पर लड़की रोती है और मम्मी-पापा को याद करती है। यह स्थिति मम्मी-पापा के संवेदनशील स्वरूप को उजागर करती है और ठीक इसी समय पापा डैनी लड़की को जबरन जीप में डालकर विशुद्ध खलनायक के रूप में उठा ले जाते हैं। अतिरंजन का यह प्रयोग दर्शक को स्तब्ध कर देने के साथ-साथ उसके मानसिक आकाश को शून्य में तब्दील कर देता है। इस कोशिश में अब नैतिक-अनैतिक कुछ शेष नहीं रहता अब इस बात की आवश्यकता महसूस की जाती है कि किसी तरह दर्शक इस शून्य से एक ऐसे आलोक में पहुँचे जहाँ वही हिप्नोटिज़्म हो जिसमें जो दिखाया जाय उसे ही आप सच स्वीकार करें। हिन्दुस्तानी समाज में सामान्यतया लड़की का बाप बेहद कमज़ोर और निरीह माना जाता है, लेकिन इस फ़िल्म में उसका ही वर्चस्व दिया गया है। ख़ासकर इस दृश्य में डैनी जिस प्रकार विजेयता पंडित को खींचकर जबरन ले जाते हैं वह बाप-बेटी के बीच प्रेम को ध्वस्त करता है। गुस्सा किसी पर, उतरता है किसी पर। यहाँ लड़की अपने आप को लड़के द्वारा किये गये प्रेम से अभिभूत तो पाती है किन्तु वह प्रेम उसे कोई ताक़त नहीं देता है और वह निरीह की बजाय दयनीय लगने लगती है।

वापस लौटने पर बन्टी घर में पिंकी को नहीं पाता तो वह अपने आशियाने को एक दीवानगी के तहत आग लगा देता है। यह काम उसी सत्य को रेखांकित करता है कि प्रेम लड़के को भी कमज़ोर ही बनाता है जिसके तहत वह अपने सपनों का संसार ख़ाक कर लेता है। इस पूरे दृश्य में प्रेम तो जलता ही जलता है साथ में संवेदनाओं की जो लपट जलते हुए घर से निर्देशक दर्शकों पर फेंकता है वह भी केवल जो दिखाया जा रहा है उसे सत्य स्वीकार करने के लिए होता है। इस तरह **लव स्टोरी** अपने कथ्य से भटकती ही नहीं बल्कि प्रेम को विनाश की वजह बना देती है। उस पर कमाल यह कि दर्शक के सामने ज़ला हुआ घर और टूटी हुई हथकड़ियाँ देखने को मिलती हैं और बन्टी उन हथकड़ियों को चूमता है। यह एक

भौतिक क़िस्म की संवेदना जगाने की नाटकीय कोशिश है कि ''हाय वे हथकड़ियाँ कितनी प्यारी थीं जो पुलिस ने उन किशोरों को एक करने के लिए लगा दी थीं।'' **बॉबी** में यह काम लड़की और लड़के दोनों के बापों ने किया था। यहाँ केवल लड़की का बाप करता है इस तरह लड़का-लड़की के बीच अलगाव के दो छोर फिर **बॉबी** से बाज़ी मार लेते हैं। उत्सर्ग के नाम पर एक और क्रूर दृश्य इस फ़िल्म में इस्तेमाल किया गया है। लड़की की माँग में सिन्दूर भरने के लिए लड़का अपनी उँगली काट कर अपने खून से लाल रंग तो अक़सर फ़िल्मों में पैदा करता रहा है मगर इस फ़िल्म में उससे दो क़दम आगे जाते हुए दिखाया गया है। बन्टी अपनी उँगली काटता है और उस खून से दीवालों पर इबारत लिखता है *बन्टी लव्ज़ पिंकी।* जंगल के नक्कार ख़ाने में इस इबारत की गूँज दर्शक के दिमाग़ में दीवानगी उँडेलती है और फ़िल्म से सारा प्रेम रिस-रिस कर बह जाता है। प्यार की यह बरबादी किसी भी कोण से न दर्शनीय है न प्रशंसनीय।

और फिर शुरू होता है एक ड्रामा। काँगड़ा की खूबसूरत वादियों को दिखाने के लिए एक नया खेल इस तरह प्रस्तुत किया जाता है जैसे नैसर्गिक सौन्दर्य की हत्या भी हो जाये और फ़िल्म की कहानी एक नये ड्रामें में तब्दील भी हो जाये। बाप के मुताबिक़ लड़की की शादी जहाँ वह रहता है सुरक्षित नहीं है। इसलिए लड़के के डर से वह काँगड़ा भागता है। वहाँ ब्याह का मंडप रचता है लड़का फ़िल्म का हीरो है, इसलिए काँगड़ा में पहुँचने के लिए उसे कोई ख़ास कठिनाई नहीं होती है। अमीर बापों के बेटों के लिए कार वग़ैरह की कोई कमी नहीं है। इसलिए बाद का क़िस्सा कारों की दौड़ में चलता है। फ़िल्म में यह रफ़्तार की तरह इस्तेमाल किया गया है। एक बार फिर लड़का-लड़की भागते हैं पलायन की यह डबल-स्टोरी है। इसमें मकान की भव्यता तो है मगर उसमें ज़िन्दगी की गुंजाइशें बहुत कम हैं। लड़की एक बार फिर लड़के के साथ भागती है गहनों से लदी लड़की गुण्डों को न्यौता देती है और अब लड़का-लड़की गुण्डे और उनके अलग-अलग बाप किसी को मारने और किसी को बचाने की अफ़रा-तफ़री में व्यस्त हो जाते हैं। और पूरी फ़िल्म का रसबोध प्रेम न होकर मारपीट ढिशुंम-ढिशुंम में तब्दील हो जाता है। इसके बाद सभी प्रतिद्वंद्वियों और नफ़रत करने वालों के हृदय-परिवर्तित हो जाते है और सब उस सुखद अंत की तरफ बढ़ जाते है जहाँ वह **लव स्टोरी** ख़त्म होती है जो कभी शुरू ही नहीं हुई। गुण्डे की गोली जब डैनी की तरफ बढ़ती है तो उसके सामने कुमार गौरव आ जाता है और तभी डैनी को पता लगता है कि कुमार गौरव एक अच्छा लड़का है। यानी अपनी जान से जहान है और उसे बचाने वाला अपना सगा। बौद्धिक दीवालियेपन की यह मिसाल है कि अच्छे भले लड़के को आप तब तक अच्छा नहीं मानते जब तक वह आप की छाती के सामने आयी हुई गोली के लिए खुद को न पेश कर दें। मगर इस कमाल में ड्रामे-बाज़ी का इतना सिला तो मिलता ही है कि दर्शक दे ताली की मुद्रा अपना ले और बॉक्स ऑफ़िस हाऊस फुल से मुग्ध हो जाये।

3

बेताब

बेताब घोड़े पर सवार फ़िल्म है। जिस तरह घोड़ा अगर बिगड़ैल है तो उसकी दिशा और उसकी दौड़ दोनों ही किसी ऐसे मोड़ पर पहुँच जाते हैं जिसके आगे गहरी खाँई होती है। जिसमें गिरने से घोड़ा और घुड़सवार दोनों ही ख़त्म हो सकते हैं। और अगर उसे संभाल लिया जाये तो एक अच्छी सवारी की तरह काम आता है। फ़िल्म के शुरू में ही पूरा पर्दा एक ट्रक में बँधे बिगड़ैल घोड़े से भरा नज़र आता है। ट्रक रुकता है और तब घोड़ा दौड़ता है। घोड़े को अनुशासित करने के लिए हीरो सनी देओल सामने आता है। यहीं से बात साफ़ हो जाती है कि यह किसी उन्मत्त चरित्र को क़ाबू में लाने की कहानी होगी। घोड़े को काबू में करके हीरो एक ऐसा दृश्य रचता है जिसमें उसके मन की उमँगें नदी की धार और पानी की उछाल के साथ एकाकार हो जाती है। इसी दृश्य में पूरी कास्टिंग दिखाई जाती है। एक तरह से इस एक पूरे फ़्रेम में किशोर मन की उमँग और तरंग साफ़ नज़र आती है और कैशोर्य अपने सिनेमाई फ़्रेम में स्पष्ट होता है।

यहाँ भी एक लकड़ी का घर है पास में बहती हुई नदी है और चारों ओर खूबसूरत हरी-भरी पहाड़ियाँ हैं। **लवस्टोरी** के सपनों का थोड़ा सा प्रयोग, **बेताब** में पूरी फ़िल्म का कैनवास है। इस वातावरण में **सनी देओल** अपनी माँ के साथ संपन्न अतीत और सामान्य वर्तमान के साथ जी रहे हैं। माँ बेटे की यादों में डिग्गी **(अमृता सिंह)** इस तरह प्रस्तुत की गयी है जैसे सावन के मौसम में किसी मज़बूत पेड़ की डाल से लटका हुआ झूला। माँ केवल याद के झरोखे से एक फूल बेटे को देती है और बेटा उस ख़ुशबू को लेकर मुग्ध हो जाता है। यह उस बनावटी कहानी का हिस्सा तो है मगर सब कुछ इस सहजता के साथ प्रस्तुत किया गया है जिस पर किसी विशेष एतराज़ की गुंजाइश नहीं है। लेकिन जैसा कि पहले ही कहा गया है चरित्रों की अतिशयता के बिना कहानी कह पाने में हमारे फ़िल्मकार असुविधा महसूस करते हैं। यहाँ भी अमीरी-ग़रीबी के साथ बदलते आदमी के चरित्रों को बयान किया गया है। लड़के की माँ जब अपने अमीर अतीत को याद करती है और अमीर होते जाना भी स्पष्ट कर देती है। रुपये पैसे की वजह से आदमी-आदमी के बीच ख़त्म हो रहे प्यार के रिश्ते को रेखांकित करती है और इस तरह मनुष्यता की कमी को धन की बढ़ोत्तरी से जोड़कर लड़की के बाप का चरित्र सामने आता है। एक गाना *(जब हम जवां होंगे, जाने कहाँ होंगे)* लगातार

पूरी फ़िल्म में रूमानी एहसास जगाने के लिए इस्तेमाल होता है लेकिन इस गीत की आत्मा में ही ''जाने कहाँ होंगे'' के माध्यम से संभावनाओं का सरलीकरण इस तरह किया गया है जैसे बिछुड़ जाना अलग हो जाना यहाँ तक कि अलग कर दिया जाना भी रूमानी लगे। यह एक छद्‌म पैदा करता है। इस तरह **बॉबी** और लव-स्टोरी के रचे हुए षड्‌यंत्र में **बेताब** अपनी भागीदारी तो जताती ही है साथ प्रेम को विरासत की तरह इस्तेमाल करती है। गोया प्यार तय-शुदा आदमी के तय-शुदा तरीक़े से और तय-शुदा समय में संभव ही नहीं बल्कि ज़रूरी भी है। जबकि प्रेम इन्हीं शर्तों के ख़िलाफ़ खड़ी होने वाली संवेदना है। जवानी के जंगल में खोया हुआ मन शहर में सोयी हुई परियों के ख़्वाब देखता है तभी *जाने कहाँ होगें* जैसी भावनाएँ रूमानी लग सकती हैं और प्रेम इस तरह की भटकाववादी प्रवृत्ति के विरुद्ध खड़ा एक ऐसा मनोभाव नज़र आता है जिससे आप भूल-भूलैयाँ वाली भावनाओं के बीच से रास्ता निकाल सकते हैं।

हीरो घोड़े ट्रेंड करता है। घास-फूस और गाँव की अन्य उत्पादित वस्तुएँ शहर में भेजता है और उसके लिए एक जीप का इस्तेमाल करता है। यह गाँव और शहर के बीच केव्ल सिनेमा में ही लिंक का काम नहीं करती बल्कि सिनेमा में बैठे हुए दर्शकों को भी अपने मन के मुताबिक़ दृश्य का आनंद लेने का बहाना भी पेश करती है। रेल्वे स्टेशन पर हीरो का दोस्त हीरो को शहर जाने की सलाह देता है और एक ऐसा लालच जगाता है जिसके साथ गाँव के सादे वातावरण को बेमानी और शहर की चकाचौंध को सार्थक बताया जा सके। यह एक कुटिल राय की तरह दिखाया जाता है। किशोर आदर्शवादी वक्तव्यों के सहारें अपने आप को शांतिप्रियता से जोड़ लेता है। यह फ़िल्म के फ़्रेम में प्यारा प्रसंग है मगर दर्शक के लिए एक दुविधा भरी ज़मीन प्रस्तुत करता है। जहाँ वह इस पर सोचता तो है पर उसे गाँव और शहर के बीच चुनाव करने में थोड़ी मुश्किल पेश आती है। वास्तव में गाँव और शहर को को अलग-अलग काट कर देखने से केव्ल सिनेमा की नाटकीयता अथवा चरित्रों की अतिशयता का ही मक़सद सामने नहीं आता बल्कि इसमें एक ओछी राजनीति की भी बू आती है जहाँ मनुष्य-मनुष्य के बीच अंतर्निर्भरता से उपजे प्रेम को ही काट कर बाहर निकाल दिया जाता है। साथ ही साथ ज़मीन से ऊपर उठकर फ़िल्म देखने का एक ऐसा मनोभाव तैयार कर दिया जाता है जिसके लिए दर्शक पहले से ही अभिशप्त है। **बेताब** को भी उसी कड़ी में पा कर न तो चकित होता है और न सम्मोहित इसलिए इस दृश्य को प्रेम की क़ैंची की तरह फ़िल्म में रख दिया जाता है जिससे जब जैसी ज़रूरत पड़े प्रेम को काट छाँट लिया जाये और अंततः इस कतर-ब्यौंत में पूरी फ़िल्म से ही प्रेम कटपिट कर अलग हो जाता है। जीवन से जीवन की सम्भावनाओं से भरे प्रेम का विलोप हो जाता है। प्लेट फ़ॉर्म पर ओछे शब्दों के सहारे शहर का जो दृश्य हीरो के सामने उसका मित्र रखता है वह शहर का सच नहीं है और उसके जवाब में भारी भरकम शब्दों के माध्यम से गांव का जो ख़ाका हीरो खींचता है वह भी गाँव का सच

नहीं है और चूँकि यह संवाद झूठे तथ्यों के सहारे खड़ा होता है अतः इस पर सच्चे मन से प्रतिकार करना भी पूरा सच नहीं है। और चूँकि इस दृश्य को फ़िल्म में गंभीरता से नहीं लिया गया है इसलिए भी यह सारी बात हवा में उड़ जाती है तो फिर इस फ़िल्म दृश्य को रेखांकित करने की आवश्यकता क्या है? आवश्यकता है। इसलिए कि यह पूरा वाक़या व्यर्थ है। और चूँकि सिनेमा में कोई भी दृश्य अपने आप नहीं आता उसे लाया जाता है। इसलिए यह व्यर्थता इसमें लायी गयी है। और व्यर्थता जब अपनी भरपूर क़ीमत वसूलती है तो फिर उसके औचित्य पर सवाल उठाना आवश्यक है। **बेताब, बॉबी** की तरह प्यार के पहले एहसास का नारा नहीं है और न ही **लव स्टोरी** का *थीमसाँग* बल्कि **बॉबी** अथवा **लव स्टोरी** की वसीयत में लिखा गया दस्तावेज़ है और दस्तावेज़ों की तरह ही इसके क़ानूनी दाँव-पेंच हैं। इस फ़िल्म में अमृता सिंह का इस्तेमाल **बॉबी** अथवा **लव स्टोरी** की तरह न करके एक दस्तावेज़ की तरह किया गया है। दस्तावेज़ अधिकारों की व्याख्या के लिए होते हैं। इसमें अमृता सिंह को सनी देओल के अधिकार की तरह इस्तेमाल किया गया है।

अमृता सिंह की उपस्थिति का पहला दृश्य बिगड़ैल घोड़े की तरह है। अपनी कार में पेट्रोल भराने के लिए वह पेट्रोल पम्प पर उलका की तरह उतरती है। शुक्र है कि गिरती नहीं पर जिस अंदाज़ में वह पेट्रोल की माँग करती है और उसको न पूरा करने की बदतमीज़ी पेट्रोल पम्प वाले करते हैं तब वह वज्रपात करती है और सब कुछ तहस-नहस कर डालती है। लड़की का यह विध्वंसात्मक रुख़ उसे बिगड़े हुए घोड़े में तब्दील कर देता है। तभी यह बात और भी साफ़ होकर सामने आती है कि यहाँ अब जानवर और आदमी के बीच कुछ होने वाला है और चूँकि यह कुछ बेताबी से होगा इसलिए अपनी ज़मीन से उठे हुए दर्शक अपनी ज़मीन से बाहर की चीज़ समझकर देखने को तैयार हो जाते हैं। उन्हें लड़की के बाप शम्मीकपूर अपने तथाकथित मित्र प्रेम चोपड़ा से एक स्टड-फ़ॉर्म खोलने का इरादा जताते हैं। यानी घोड़े पलेंगे, उन्हें अनुशासित किया जायेगा और हीरो अपनी मुख्य भूमिका को अंजाम देगा। सांकेतिक रूप में ही बाप का घोड़ा फ़ॉर्म, उसका घर और बेटी घोड़ा नज़र आते हैं। टीकमगढ़ की भव्य कोठी में हीरोईन अपनी सहेलियों के साथ अवतरित होती है। जिस रेल्वे स्टेशन पर वे उतरती हैं। उसी जगह से हीरो अपनी जीप से घर लौट रहा होता है। रेल्वे स्टेशन से टीकमगढ़ की हवेली और सनी देओल के फ़ॉर्म पर एक ही रास्ते से जाया जा सकता है। इस पूरी व्यूह रचना में प्रेम का कहीं अता-पता नहीं है तो भी उसको निहत्थे अभिमन्यु की तरह लड़ाई का काम निभाना पड़ता है और यह हास्य से और विद्रूप के सहारे ख़ासी देर तक पर्दे पर दिखाया जाता है। यह वह रस है जिसकी अनुभूति मानसिक अपच तो नहीं पैदा करती लेकिन संवेदनात्मक अरुचि अवश्य उपजाती है। हँसने-हँसाने के लिए हल्के-फुल्के ढंग से प्रस्तुत किये गये प्रसंग एकबार फिर अनावश्यक नज़र आते हैं। लेकिन जान पहचान के लिए खटारा गाड़ी में छूट गये स्कार्फ़ सब कुछ सायास

रखे गये लगते है यहाँ पर निर्देशकीय चालाकी तो समझ में आती है लेकिन सूझ-बूझ कही नज़र नहीं आती। अगर सायास दृश्यों में व्यर्थता आलोचना का बिन्दु बनती है तो सायास असहजता भी उसी आलोचना का बिन्दु नज़र आती है। स्टेशन पर उतरने के बाद टिकट चेकर द्वारा टिकट की माँग करने पर अमृता सिंह जिस तरह उससे पेश आती है, वह लड़की के भाषित चरित्र को और पुख़्ता करती है मगर यह सवाल भी खड़ा करती है कि क्या सामान्य अनुशासन भी चरित्र चित्रण की अतिशयता की बलि चढ़ा दिया जाना जायज़ है। जवाब यह है कि यह सब उस आलोक का सच है जो **बेताब** के मार्फ़त वही स्वीकारने को बाध्य करेगा जो धर्मेन्द्र और राहुल रवेल चाहेंगे। अपनी अशालीनता से सिनेमा के भीतर और उसके बाहर बैठे लोगों का ध्यानाकर्षण एक नाटकीय सफलता के रूप में देखा जा सकता है। लेकिन यदि इसे उस परिचय की बुनियाद के रूप में रखा जाना है जिस पर प्रेम की हवेली बनानी है तो यह बिन्दु कमज़ोर हो जाता है। क्योंकि चकाचौंध के आकर्षण में केवल एक ही व्यक्ति नहीं आता और कई व्यक्तियों की क़तार में बिन्दु अपना मार्ग तो बना लेता है लेकिन उसका अस्तित्व ख़त्म होकर एक लकीर का रूप ले लेता है। यहाँ वह कौशल तो बेकार जाता ही जाता है, वह श्रम भी अकारथ हो जाता है जो इसके निर्णय के पीछे लगा होता है।

षड्यंत्र रच रहे **प्रेम चोपड़ा** और उसका नौजवान भागीदार जिसे लड़की का बाप मित्र और मित्र पुत्र के रूप में जानता है लड़की के लिए इस तरह नज़र जमाये घात लगाये रहते हैं जैसे वह उसी दस्तावेज़ी विरासत का भौतिक स्वरूप है जिसे हीरो संवेदनात्मक विरासत के रूप में स्वीकार करता है। इन दस्तावेज़ी तिकड़मों में प्रेम की संभावना कहाँ से पैदा होगी इसे लेखक निर्देशक ही जानते हैं और बड़ी चतुराई से दर्शक के दिलो-दिमाग़ में बैठा देते हैं कि प्रेम की यह एक बुनियाद है। और यहीं से **बेताब** किशोर प्रेम फ़िल्म के रूप में आम दर्शकों तक पहुँच जाती है। **बेताब** नारे अथवा नाम के बिना भी किशोर प्रेम के चौखटे में खड़ी एक द्वंद्व कथा है जिसको प्रेम कहानी का लिबास इस तरह पहनाया गया है जैसे किसी नाटक के कास्ट्यूम इस्तेमाल होते हैं। जब षड्यंत्र रच रहे बाप बेटे ये जुमला उछालते हैं कि बाप को बाप मुट्ठी में रखे और बेटा बेटी को प्याले में उतार ले, तो प्रेम अपने आप औज़ार की तरह इस्तेमाल हो जाता है और तभी यह क्रूर तथ्य सामने आता है कि प्रेम सारे षड्यंत्रों की बुनियाद है। आप प्रेम करेंगे तो विश्वास पैदा होगा और जब विश्वास पैदा होगा तो षड्यंत्र सफल होगा ज़रा इसमें से प्रेम को अलग करके देखिए षड्यंत्र अपने आप ख़त्म हो जायगा। तो क्या प्यार वाक़ई नफ़रत की चीज़ है? नहीं, वास्तव में इस परिकल्पना में प्रेम करना व्याकरण की ग़लती नहीं आदमी की फ़ितरत की बदमाशी है जहाँ से प्रेम करना और प्रेम दिखाना दोनों चीज़ें एक जैसी बता दी जाती हैं।

सनी देओल जब बिना माँगी गयी लिफ़्ट देकर अपनी गाड़ी में रोमा गिल को लेकर टीकमगढ़ की हवेली में दाख़िल होता है तो यह पूरी एन्ट्री रहस्यमय लगती है।

और रोमा गिल जिस तरह सनी को उसकी भलमनसाहत के बदले कुछ रुपये उछाल देती है वह एक मग़रूर लड़की का चरित्र स्थापित करती है साथ ही सनी का उसे थैंक्यू कह कर स्वीकार कर लेना लड़की के चरित्र को व्यर्थ का गुरूर समझना ही रेखांकित करती है। थोड़ा और बारीक़ी से देखें तो लगता है कि लड़की का अपनी टाँगों पर रेल्वे स्टेशन से 18 मील टीकमगढ़ आने का निर्णय आत्मविश्वास का निर्णय है और सनी का उनको लिफ़्ट देने का प्रयास सहयोग देने का प्रयास नहीं बल्कि रोमा के आत्मविश्वास को डिगाने की कोशिश है। यह घटनाक्रम सहज किशोर मनोवृत्ति का फ़िल्मांकन नहीं लगता बल्कि प्रौढ़ सोच का खिलवाड़ नज़र आता है। किशोर दृष्टि से हम उम्र लड़की को देखकर सहज आकर्षण जिस तरह की छेड़छाड़ पैदा करता है वह इन दृश्यों में कहीं नज़र नहीं आता और उधर बेटी रोमा अपने बाप को *आई लव यू पापा* उसी आक्रामक ढंग से कहती है जिस आक्रामक ढंग से उसमें अपने बाप के सलाहकार शर्मा को **''आई हेट यू''** कहती है और पानी में धकेल देती है। इस तरह **''आई लव यू''** और **''आई हेट यू''** मन के उबाल के रूप में सामने आते हैं और ये उबाल बिखरते देर नहीं लगती। इससे **बॉबी** और **लव स्टोरी** से पिटी हुई प्रेम की रही-सही कोमलता भी नष्ट हो जाती है। यह उस बीज की दशा है जो अंकुरण लायक़ बचा ही नहीं। इस पूरी फ़िल्म में रोमा की उद्दंडता और सनी की सहिष्णुता एक दूसरे के पूरक की बजाय विरुद्ध काम करते हैं जबकि सामान्य मनोवैज्ञानिक नियमों के अधीन इन्हें एक-दूसरे के पूरक रूप में काम करना चाहिए। वास्तव में सनी जिस शालीनता के साथ रोमा की उग्रता का प्रतिकार करता है उससे रोमा और आहत होती है। बाद में यह युद्ध शैली में बदल जाता है। जिससे एक-दूसरे को नीचा दिखाने की कोशिश होने लगती है। एक दृश्य में अपनी-अपनी गाड़ियों में दोनों ऐसी पुलिया पर आमने-सामने होते हैं जहाँ से केवल एक ही गाड़ी जा सकती है। पुरग़ुरूर-रोमा अपने आदेशात्मक लहज़े में सनी को गाड़ी वापस करने को कहती है और सनी उससे निवेदन के स्वर की फ़रमाइश करता है जिसके जवाब में रोमा अपनी कार को ज़रा सा पीछे तो करती है, लेकिन उसमें पलट कर वार करने की नीयत साफ़ झलकती है। बाद में वह ऐसा ही करती है। गाड़ी दुबारा तेज़ रफ़्तार से सामने लाती है और सनी की गाड़ी को ठोकर मारती हुई एक तरफ़ धकेल देती है। अपनी गाड़ी पुलिया के उस पार ले जाती है। यहाँ पर सनी भी शालीनता छोड़ देता है। रोमा की गाड़ी को अपनी जीप से तेज़ टक्कर मारता है। रोमा की औरत अन्ततः सामने आ जाती है और बिखरते हुए हाथ उठा देती है जवाब में सनी उसका हाथ सख़्ती से रोक कर अलग कर देता है और कहता है कि यह गुस्ताख़ी अगर किसी और ने की होती तो उसका हाथ कंधे से उखाड़ कर अलग कर देता, लेकिन वह उसके साथ ऐसा नहीं करेगा। लेकिन चूँकि लड़की ने गुस्ताख़ी तो की है इसलिए सज़ा ज़रुर देगा। वह सज़ा उसने दी और जबरन रोमा को पकड़कर उसका चुम्बन ले लिया। रेखांकित करने वाली बात यह है कि चुम्बन बतौर सज़ा लिया दिया जाता है और

प्रेमानुभूति की मिठास ख़त्म कर दी जाती है जो ऐसे दृश्यों की अनावश्यक ज़रूरत है। सज़ा के बिन्दुओं पर चुम्बन का प्रयोग **बेताब** की बुनियादी ख़ामी है और इस फ़िल्म की बॉक्स ऑफिस पर सफलता का आवश्यक तत्व भी। गोया चुम्बन न हुआ थाली में रखी हुई टाफ़ी हो गयी जिसे, चाहो तो बाँट दो चाहो तो बेच लो।

रोमा पर सनी का प्रेम (बचपन की बुनियाद) दस्तावेज़ी सबूत बनकर आता है बचपन में साथ खेले बच्चों का आपसी रिश्ता प्रेम और विवाह में तब्दील हो जाना सामान्य सी बात हो सकती है और इसमें कोई नैतिक सवाल खड़ा नहीं होता फिर भी बचपन के आदर्श और उसमें निर्मित रिश्ते जवानी के प्रेम की दलील के रूप में स्वीकार किया जाना ज़रूरी नहीं है। क्योंकि जवानी अपना अलग अनुभव है और उसकी अलग ज़रूरतें हैं। जवानी की ज़रूरतों का बचपन के रिश्तों की दलील के रूप में किया गया इस्तेमाल एक तरह का थोपा हुआ तर्क है जिसे **बेताब** में प्रस्तुत किया गया है और दर्शक उसे तर्कातीत ढंग से स्वीकार कर लेता है। रोमा को सनी जब भी देखता है, याद करता है, तनहाइयों में गिटार की मार्फ़त उसको गाता बजाता है उसको सुनाता है। बचपन की *डिग्गी* बड़ी हुई रोमा की शक्ल में नज़र आती है। यह आकर्षण नाजायज़ नहीं है पर केवल इसी बुनियाद पर रोमा पर अपना हक़ मान लेना एक तरह का बल प्रयोग है। जबकि प्रेम में बल का उपयोग निषेध है। रोमा और सनी के बीच हर मुलाक़ात में बदला लेने की गंध आती है। अपने स्टडफ़ॉर्म में रोमा जब एक ऐसे घोड़े को देखती है जिसे क़ाबू करने के लिए छः-छः साईस पसीने-पसीने हो रहे हैं तो उसे एक ट्रेनर की ज़रूरत महसूस होती है और जब वहाँ चेलाराम सनी का नाम लेता है तो रोमा के चेहरे पर हैरत और बदला लेने का भाव एक साथ उतरता है। दूसरे दिन सनी उस घोड़े को क़ाबू में करने के लिए आता है और इसे चैलेंज़ की तरह स्वीकार करता है। इस दौरान एक संकेतात्मक और व्यंगात्मक वाक्य बोलता है कि "जानवर जितना सरकश होता है उसे क़ाबू में करना उतना ही आसान होता है।" इस वाक्य में कौन-सा दर्शन है या फिर कौन-सी प्रमेय यह तो लेखक जावेद अख़्तर और निर्देशक राहुल रवैल ही जानते होंगे, लेकिन इस शब्दावली में रोमा को बिगड़े हुए घोड़े के रूप में इंगित किया गया है। द्वंद्व, प्रतिरोध, प्रतिशोध और नीचा दिखाने की कोशिश ऐसी शब्दावली से सामने आयी हैं और इसे **बेताब** की मुख्यधारा के रूप में इस्तेमाल किया गया है सवाल यह है कि आकर्षण *बॉबी का तत्व, अपेक्षा,* **लव स्टोरी** का मूलतत्व के बाद **बेताब** ने इसके नीचे की पायदान पकड़ी और उसे उपेक्षा पर टिका दिया। यहाँ से प्रेम की आधारशिला केवल कमज़ोर नहीं हुई बल्कि ख़त्म ही हो जाती है और प्रेम जैसा पुख़्ता एहसास हवाई बनकर रह जाता है और घोड़े पर जब सनी क़ाबू कर लेता है तो घोड़ा उतना लाचार और हारा हुआ नज़र नहीं आता जितनी लाचार और हारी हुई रोमा नज़र आती है। यह हार सच को स्वीकार करने का एहसास नहीं है बल्कि आहत होने का एहसास है। ऐसे में इच्छाएँ दबती हैं और

वे और उग्र होती हैं और यदि बाद के किसी मुक़ाम पर वाक़ई कहीं समर्पण का भाव पैदा होता है तो वह प्रेम की बजाय वर्चस्व स्वीकार कर लेने का एहसास मात्र होता है। बेताब में यही है। अतः प्रेम इस परिदृश्य से अपने आप पलायन कर जाता है। इस तनावग्रस्त और गतिरोध की मानसिकता के बीच चेलाराम जब चरवाहे और राजकुमारी के प्रेम की कहानी रोमा को सुनाता है और उन पहाड़ियों के बीच जहाँ कि रोमा पिकनिक मना रही है लवर्स प्वाइंट का हवाला देता है। रोमा का लवर्स प्वाइंट पर जाना और *आजा* की अनुगूँज सुनने का मतलब कुछ भी नहीं निकलता, क्योंकि आजा की प्रतिध्वनियाँ यदि तीन बार आये जैसा कि चेलाराम ने बताया है तो पुकारने वाले का प्रेमी उसे मिल जाता है। उस दृश्य तक रोमा जितना भी पर्दे पर पेश की गयी है उसमें कहीं भी उसका प्रेमी स्पष्ट नहीं किया गया है तो फिर आजा क़ी अनुगूँज रोमा क्यों सुनने गई। केवल कुतूहल के लिए या जिज्ञासावश। इस दृश्य की उपज रोमा की जिज्ञासा नहीं राहुल रवैल की करतब है जो वह रोमा की मार्फ़त दर्शकों के दिमाग़ में पैदा करते हैं। *लवर्स प्वाइंट* पर रोमा का *आ-जा* की दो प्रतिध्वनियों को सुनना उसके अंदर तीसरी प्रतिध्वनि की इच्छा जगाता है जबकि इस इच्छा का आधार तब तक स्पष्ट ही नहीं है। ऐसे में आलम्बन-अवलंबन बिना प्रेम त्रिशंकु की तरह लटक जाता है और निलंबित प्रेम का इस्तेमाल नशे की तरह राजकपूर ने **बॉबी** में किया। ज़रूरत की तरह राजेन्द्र कुमार ने लव स्टोरी में किया और उपेक्षा की तरह राहुल रवैल ने किया **बेताब** में। बेक़ाबू घोड़े को चैलेंज की तरह स्वीकार करते जब सनी उसे क़ाबू में करता है तो एक ही साथ जैसे वह घोड़ा और रोमा दोनों को क़ाबू में कर लेता है। क़ाबू में करना लड़ाई की जीत की तरह सनी के भीतर काम करता है। यह प्रेम तत्व हो ही नहीं सकता तो फिर लड़की का स्कार्फ़ अपने गले में बाँधकर घूमने का क्या मतलब। यह लगाव और गिटार पर बजायी गयी एकांतप्रिय धुन आपस में अव्वल तो कहीं मिलती नहीं दिखती और अगर मिलती है तो एक-दूसरे को काटती हुई। अपनी हार अथवा ज़िद या गुस्ताख़ी की एवज़ में चूमे जाने से आहत रोमा प्रतिरोध की आग में जलती अपनी कार से सनी के फ़ॉर्म हाउस आ धमकती है और उसे तोड़-फोड़ कर वापस चली जाती है। इसी बीच फ़ॉर्म हाउस पर सनी का कुत्ता अकेला रहता है। फ़ॉर्म हाउस पर फैलाया गया एकांत जानबूझकर थोपा गया एकांत है। क्योंकि यहाँ पर हमेशा रहने वाली सनी की माँ को कहानीकार और निर्देशक ठीक उस वक़्त तीर्थ यात्रा पर रवाना कर देते हैं जिस वक़्त रोमा अपनी सहेलियों के साथ टीकमगढ़ और सनी के फ़ॉर्म हाऊस की हद में दाख़िल होती है। किशोर युगल को एकांत सौंपकर उन गुस्ताख़ियों के लिए अतिरिक्त सुविधा जुटायी गयी है जो इस उम्र की दैहिक ज़रूरतों की तरह पैदा होती है। यह एक बारीक़ फ़र्क़ है कि मन और देह की ज़रूरत में पहले यदि देह आती है तो मन पिछड़ जाता है और यदि मन एक बार पिछड़ा तो देह उसे अपने से आगे जाने का मौक़ा नहीं देती तब रिश्ता सहज प्रेम की बजाय भौतिक मजबूरी के रूप में स्वीकार किया जाता है और ऐसे में

संवाद सरल हो जाते हैं ''रास्ते से हटाना आप को आता है, तो रास्ते पर लाना मुझे आता है।'' ताक़त के सहारे पर लायी गयी चीज़ें ताक़त के हटते ही रास्ते से अलग हो जाती हैं। जबकि प्रेम के सहारे रास्ते पर लायी गयी चीज़ें रास्ते पर बनी रहती हैं। **बेताब** इस बुनियादी अर्थ को साबित करने में विफल रही है।

एकांत में अपने टूटे घर की मरम्मत करने के लिये सनी रोमा को अपने फ़ॉर्म हाउस में लगभग नज़रबन्द कर देता है। यहाँ पर निर्देशकीय कौशल अंततः रोमा का सनी से लगाव पैदा कर देता है। पर यहाँ भी बुनियाद दस्तावेज़ी यथार्थ ही है। इस क़ैद से घबराकर जब रोमा जंगल में भागती है तो उसे साँप काटता है तो उसका ज़हर सनी चूस कर फेंक देता है।

अब **लव स्टोरी** के डैनी की तरह **बेताब** के शम्मीकपूर प्रकट होते हैं और उसी क्रूरता के विस्तार की तरह रोमा को सनी से छीन ले जाते हैं। यहाँ पर जान से मार डालने की धमकी इत्यादि प्रेम और विछोह के दो छोरों को आपस में और भी दूर कर देते हैं और तब शुरू होता है खून की गर्मी का हिसाब। इस हिसाब-किताब में प्रेम चोपड़ा और उनके गुण्डे अपने ज़हरीले रोल अदा करते हैं और तब होती है एक रेस-कार में भागती लड़की और उसका बाप, घोड़े पर दौड़ता सनी और कीचड़ भरे खेत में युद्ध और कुछ इस तरह के संवाद ''औक़ात के हिसाब से सपने देखो'' (शम्मीकपूर) ''ग़रीबी दिमाग़ ख़राब कर देती है'' (शम्मीकपूर), ''शुक्र है कि हम अमीर नहीं हैं,'' (सनी की माँ), इस बीच भागा-भागी में ''बादल यूँ गरजता है'' गीत के माध्यम से किशोर प्रेम के वयस्क दृश्यों का इस्तेमाल **बॉबी** और **लव स्टोरी** की तर्ज़ पर ही किया गया है। जो यह स्थापित करता है कि **बेताब** उक्त दो फ़िल्मों के चलन में शामिल है। अन्ततः रोमा बाप के क़ब्ज़े में होकर कोठी में क़ैद हो जाती है। सनी उसे गुप्त संदेश भेजता है कि ''वह अपना स्कार्फ़ कोठी के ऊपर झण्डे की तरह लहरा दे अगर उसे सनी से वाक़ई प्यार है।'' प्रेम का परचम रोमा लहरा देती है। मान लीजिये घर में नज़रबंद रोमा मजबूरी वश यह परचम नहीं लहरा पाती तो सनी प्यार की पुख़्तगी का क्या सबूत माँगता या स्कार्फ़ के न लहराने पर वह प्रेम, नहीं रहता, पता नहीं प्रेम को अंत तक सबूतों पर क्यों टिकाया गया। ख़ैर, प्रेम ने अपना सबूत दिया और सनी इस लड़ाई पर निकल पड़ा। बाक़ायदा माँ द्वारा माथे पर टीका लगवाकर। यहाँ ग़ौर करने लायक़ यह बात भी है कि माँ को फिर वापस तब बुलाया गया जब एकांत अपना रोल अदा कर चुका था। सनी का कोठी में दाख़िल होना सही-सलामत बच कर निकल आना रोमा को जीत लाना जैसी सारी अविश्वसनीय बातें फ़िल्म की तरह ही घट गयीं। अन्ततः षड्यंत्रों का पर्दाफ़ाश कुछ लड़ाइयाँ और क़िस्से के इकलौते कारण शम्मीकपूर द्वारा इस तथा-कथित प्रेम को स्वीकृति मिल गयी फिर सवाल उठता है कि स्वीकृति के लिए प्रेम ने क्या रोल अदा किया। क़िस्सा तो सारा कुछ षड्यंत्रों के ज़ाहिर हो जाने का है तो फिर बेताब प्रेम-कहानी होकर भी किस कोण से प्रेम-कथा साबित होती है, और यह समाज को क्या देती है?

4

कयामत से कयामत तक

अतिशयता में आकंठ डूबी फ़िल्म **कयामत से कयामत तक** खूब नफ़रत, खूब प्रेम, खूब हिंसा, खूब सदाशयता की खूबियों से ख़राब हुई है। नफ़रत की घनी पृष्ठ भूमि में प्रेम एक धब्बे की शक्ल में उभरता है जो अपने-आप में ही अनैतिक कर्म है। जिस प्रकार एक चलन था कि पूरी 3 घंटे की फ़िल्म में ढाई घंटे बुराई प्रधान रही, नायक पिटा, खलनायक ने पीटा और मज़े किये फिर आख़िरी कुछ मिनटों में अच्छाई की जीत दिखा कर दिखाने और देखने वालों ने अपने कर्तव्यों की इति श्री कर ली, और इस दुष्कृत्य के चलते दुष्कर्मों ने अधिक ललचाया और धीरे-धीरे नायक ने ही खलनायक के कुकर्म अपना लिये और कुल मिला कर नैतिकता का सवाल ही अप्रासंगिक हो गया और वह दिन दूर नहीं जब नैतिक प्रश्न अनैतिक घोषित कर दिये जायेंगे। उसी प्रकार प्रेम को उभारने के लिए फोटोकम्पोजिंग के नये फन का इस्तेमाल किया गया है। काले पर सफ़ेद छापना आसान नहीं था। (अगर प्रेम को घृणा के सामने, सफ़ेद के सामने काला की तरह लिया जाये तो)। पर कुल मिलाकर जो पेश किया गया है वह घट बढ़ के गणित में घृणा को स्वच्छ-साफ़ धवल और बृहत् आयाम देता है और प्रेम उसके बीच फूहड़ धब्बा नज़र आता है। हिंसा, घृणा, प्रतिशोध और लगभग अमानवीय इच्छाओं की धरती में प्रेम को इस प्रकार उपचारित किया गया है जैसे उसके बिना यह बीज उस ज़मीन में उग ही नहीं सकता जबकि प्रेम (आज की दुर्गति के बावजूद) स्वयं मानव कुंठाओं का उपचार है। उपचारित प्रेम एक छद्म संवेदना के रूप में ग्रहण होता है इस फ़िल्म की यही ख़राबी है और इसकी सफलता की वजह भी।
सच्चे प्राकृतिक पौधे को लगाना, निराई-गुड़ाई करना, मौसम और मानवीय ख़तरों से बचाना, फिर पाना एक पल की गंध और क्षण भर का रंग किसे सुहाता है उसके बदले खरीद लाना मन पसंद खुशबू का स्प्रे एक पल छिड़का और भर लिया गंध से घर। **कयामत से कयामत तक** ने इसी प्रकार के स्प्रे का काम किया है। इस प्रकार का कार्य करते हुए उन्होंने काले-सफ़ेद का भेद तो रखा मगर एक बात का ध्यान रखना भूल गये कि जब घनघोर बदबू के बीच कोई खुशबू छिड़की जाती है तो वह विकृत गंध के रूप में ग्रहण होती है इस प्रकार गंध अपना मूल अर्थ

खोकर कोई और ही रूप अख़्तियार कर लेती है। **कयामत से कयामत तक** इसी हादसे का शिकार है।

कास्टिंग से पूर्व ही ठाकुरों-ज़मीदारों की आपसी नफ़रत ईर्ष्या और व्यर्थ के अहं के बीच आकर्षण और समर्पण के बीच ठुकराया गया शादी का प्रस्ताव तथा हत्या-आत्म-हत्या का वातावरण जान बूझ कर सेप्टिक टेंक के ढ़क्कन खोलने जैसा कर्म है जिसके बीच आमीर खान और जूही चावला के बीच प्रेम दिखाना एक घिनौना कर्म लगता है। इस जगह उबकाई आती है। ताहिर हुसैन ने इस फ़िल्म का ताना-बाना बुनते हुए बॉबी से बेतांब तक की किशोर प्रेम यात्रा का भरपूर उपयोग किया है। कुछ नया करने की गरज़ से युद्ध की लगातार विभीषिका झेल रहे देशों के बीच रहने वालों की जीवन स्थितियों की सतही कल्पना की और सोचा कि युद्ध के बीच वहाँ जिस प्रकार प्रेम सहज मानवीय कर्म के रूप में स्वीकार होता है और किया जाता है उसी प्रकार पर्दे पर भी दो नफ़रत करने वाले परिवारों के बीच प्रेम में पगी एक पीढ़ी पेश की जा सकती है और इस प्रकार **कयामत से कयामत तक** सामने आयी। यह, एक क्रिया के विपरीत और बराबर परिमाण की प्रतिक्रिया के भौतिक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार हुई और इससे प्रेम की उस अंतर्धारा को ही भीतर ही भीतर सुखा डालने की कोशिश हो गई जिसके चलते समीक्षा के मानदंड बनने वाले थे। दर्शक के लिए किशोर-प्रेम, भौतिक सिद्धान्त की तरह सामने आया और वे चकित हो गये कि "अरे ये लो प्रेम को समझना कितना आसान हो गया जैसे दो धन दो बराबर चार।" इसी चकित मानसिकता ने **कयामत से कयामत तक** को भरपूर दर्शक दिये और प्रेम को गणित का स्वरूप भी प्रदान कर दिया। चीज़ों के साथ इस प्रकार का खिलवाड़ करने की आदत सिनेमा की रही भी है। खूब सामान्य सहज को ऐसा उलझा कर पेश कर दो कि उसे सरल समझना नादानी या मूर्खता नज़र आने लगे और कठिन चीज़ को इतना सरलीकृत कर दो कि वह बहुत मामूली लगने लगे और दर्शक सहसा बोले उठे, "कि धत्तेरे की इतनी-सी बात हमारी समझ में नहीं आ रही थी"। इस दूसरे कथ्य का इस्तेमाल पूर्वापेक्षा अधिक हुआ है।

टी.एच. फ़िल्म्स का प्रारंभ इश्को हुस्न को ठोकर में रखने की चेतावनी के साथ शुरू होता है। और फ़िल्म के शुरू होते ही होती है ठाकुरों के बीच द्वंद्व की कथा। गर्भपात, आरोप झूठ और चेतावनी तथा हत्या की कयामत बरपा होती है। यानी **कयामत से** का काम पूरा हुआ। फिर पेश किया गया सितारों से लेकर पर्दे के पीछे काम करने वालों के नाम। और फिर नज़र आया कॉलेज़ का जलसा। इन तमाम फ़िल्मों में लड़का-लड़की किशोर वय के और कॉलेज़ में पढ़ते हुए दिखाये जाते हैं मगर कॉलेज में होती पढ़ाई को कहीं भी रेखांकित नहीं किया जाता। जलसे, खेल कूद, पार्क, लाइब्रेरी, पिकनिक इत्यादि का इस्तेमाल अपने मतलब के लिए तो खूब किया जाता है मगर वही पढ़ाई वाला मसला जितना छात्र और अध्यापक के लिए मुश्किल है उतना निर्देशक और अभिनेता के लिए भी।

जलसे में "पापा कहते हैं बड़ा नाम करेगा" गाते हुए नायक लगभग अवतरित होता

है और यूँ गाता है जैसे पापा का वैसा चाहना नासमझी है या फिर पापा के ऐसे बेटे से वैसा चाहना अनुचित है। ऐसे पापा प्रस्तुत होते हैं। प्रसन्न होते हैं। इस विद्रूप में सुधार-समेट कर फिर सजा दिया जाता है जिसके बीच नफ़रत और प्रेम को प्रस्तुत करने में आसानी हो। अच्छे कारोबार के चलते सभी लोग अपनी-अपनी गद्दियाँ संभाल लेते है ताकि बराबरी के तहत ही ज़ोर आज़माइश हो। इस फ़िल्म में पूर्व फ़िल्मों का अमीरी-ग़रीबी के माध्यम से लड़का-लड़की के बीच खाईं पैदा करने की तकनीक का इस्तेमाल नहीं किया गया है बल्कि दोनों के परिवार को समान आर्थिक धरातल पर रखा गया है और उनके अभिभावकों के बीच तनाव और विकर्षण के लिए विरासत में मिली नफ़रत सौंपी गयी है ताकि प्रेम को पैदा करने और उसके परवान चढ़ने की कथा खूब कशमकश भरी हो। संवाद की भरपूर संभावना हो।

एक प्रतिद्वंद्वी के घर में हो रही पार्टी में राज (आमीर) जिस तरह आकर्षण का केन्द्र बन कर शामिल होता है तथा पहचाने जाने पर जिस प्रकार पलायन करता है वह सतही तथा तर्कहीन हास्य का विषय तो हो सकता है परन्तु प्रेमांकुर के रूप में, जैसा कि फ़िल्म में प्रस्तुत किया गया है, सहज स्वीकार्य नहीं लगता। असली और नक़ली रूपसिंह का तमाशा मनोरंजन के रूप में फ़िल्म में डाला गया है। प्रेम फ़िल्म में मनोरंजन डालना कोई गुनाह नहीं है मगर गुनाह है वह कारण जिसके तहत कोई दृश्य घटिया मंतव्य से फ़िल्म में परोसा जाता है। यहाँ पर इस तथाकथित मनोरंजक *सीन* में नीयत का खोट भव्यता बनाम नक़ली रईसी के रूप में आया है। वह आपत्तिजनक है।

इस पहली मुलाक़ात के तनाव अथवा तनाव की पहली मुलाक़ात के बाद वास्तविक मुलाक़ात के लिए ज़रा जम कर छूट दी गयी है। इस छूट के लिए आस-पास का नफ़रतज़दा माहौल चूँकि रास नहीं आ रहा था इसलिए किशोर युगल को अलग-अलग तरीक़ों से एक ही जगह कहीं पहुँचाया जाता है। इस फ़िल्म में कहीं माउंट आबू है। लड़की को फ़ोटोग्राफ़ी का शौक है हाथ में कैमरा है सामने डूबता सूरज है और माउंट आबू की खूबसूरत पहाड़ियाँ है। बीच में लगभग भद्दे ढंग से किशोर नायक है। इस दृश्य में लड़के को जिस ढंग से दिखाया गया वह तो बेहूदा है ही यदि इन्हीं दृश्यों से प्रेम की उपज की जाती रही तो वह दिन दूर नहीं जब प्रेम के लिए दिल की भी आवश्यकता नहीं बची रहेगी। इसी आँख मिचौली में कैमरा गिरता है लड़का अभद्र तरीक़े से भद्रता दिखाता है। पूछता है, "टूटा तो नहीं?" यकीन जानिए अगर आप ने फ़िल्म देखी है तो यह वाक्य बोलने का दृश्य याद कीजिए आप को झुंझलाहट होगी। उस छेड़-छाड़ के घटियापन और उत्पीड़न में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। ऐसे में अगर कैमरा न गिरा हो तो आदमी पटक कर फोड़ दे और कैमरा ही क्यों हाथ में जो भी हो वही फेंक दे, या फेंक मारे। मगर यहाँ मामला उल्टा है। कोमल भावनाओं को अंकुरित करता/होता बताया गया है। यहाँ फिर एक छद्म है। आदमी के मन में झुंझलाहट भरो और प्रेम का स्वाँग

रचो। यह सामाजिक व्यवहार का छल है जिसे मनोरंजन और दृश्य की नाटकीयता के लिए इस्तेमाल किया गया है न कि प्रेम के स्फुरण अथवा अंकुरण के लिए उचित जलवायु प्रदान करने के लिए।

यह एक तरह का वही *निगेटिव-कम्पोजीशन* है जिसमें गाली पर गुस्से की स्वाभाविकता को खारिज करके गाली पर आशीर्वाद का मुहावरा प्रस्तुत किया है और रूमानी नाटकीयता के संवादों के लिए डूबते सूरज, सूर्ख साँवली शाम, पहाड़ी का इस्तेमाल करते-करते अगले दिन का वादा लिया दिया जाता है। ऐसी फ़िल्मों में लड़का-लड़की मुलाक़ात के काफ़ी बाद तक अजनबी परिचय का रंग ओढ़ते हैं, क्योंकि वास्तविकता में कोई ऐसा पेंच होता है जो युगल आकर्षण/प्रेम में फिट नहीं बैठता। यह अपने-आप में पेंच है जिससे दर्शक के तर्क-तंत्र में शामिल हुआ जा सकता है तथा उसे काम करने से रोका जा सकता है। यहाँ पर लड़का-लड़की को जानता है पर अपने को अज्ञात रखते हुए कोई और/कुछ और के रूप में सामने लाता है। यह आदमी की जिज्ञासा का शोषण बन कर आता है और भारतीय चित्रपट पर इसे अच्छी तरह भुनाया गया है। इसका इस्तेमाल **कयामत से कयामत तक** में भी हुआ है। इस दृश्य का रसबोध काफ़ी देर तक क़ायम रखा जाता है ताकि यदि उसे तब-तक स्वीकार नहीं किया गया हो तो आगे स्वीकार कर लिया जाये। इसी क्रम में होटलों में आंखों का करतब है, हाथ देखना-दिखाना, किस्मत, नसीब, मुकद्दर का कमाल और खींचे गये फ़ोटोग्राफ़ों का अवलोकन इत्यादि बेहद तेज़ी से तथा आकर्षक ढंग से चलता है। जिसका एक ही उद्देश्य है दृश्य दर दृश्य घटनाओं की तेज़ गति से प्रस्तुति ताकि तर्क का पेंच बंद ही रहे और दृश्यों के बहाव में आप प्रेम का पल्लवित होना स्वीकार लें और उसे नवयुगल के लिए आवश्यक तत्व की तरह प्रमाणित कर दें। और इसे स्वीकारने में कोई संकोच भी नहीं होता कि यह सब फ़िल्म ने किया भी है। इस फ़िल्म की सफलता का रहस्य ही यही है कि सब कुछ आप निर्देशकीय ढंग से स्वीकारते जाते हैं और यहाँ तक आते-आते फ़िल्म का प्रेक्षक उसका हिस्सा बन जाता है। एक तरह का हिप्नोटिज़्म क़ायम हो जाता है। यह उस स्प्रे का कमाल है जिसे **कयामत से कयामत तक** रचने में इस्तेमाल किया गया है। अभिभूत कर देना भी कोई जुर्म नहीं है मगर बात वहीं फिर नीयत की आती है। यहाँ पर जो *ब्रेनवाश* सामने आया है वह आप को उस छद्म को सत्य स्वीकार कराता है जो अव्वल तो है ही नहीं और जो कुछ आभास देता है वह अनैतिक है (कम से कम आज तक की स्थितियों तक)। किसी लड़की को हिप्नोटाइज़ करना तथा उसे समर्पण के लिए तैयार कर लेना, बलात्कार से कम बर्बर तथा अश्लील नहीं है यहाँ **कयामत से कयामत तक** में भी यही सब कुछ, इसी प्रकार का है।

माउंट आबू का ज़रूरत भर इस्तेमाल करने के बाद अब लोकेशन बदलने का ख़याल आया। इस ख़याल में उलझाव और बहकाव के सिवा कुछ भी नहीं है। अगली बार शिकार जंगल सीतापुर/नगर इत्यादि की पृष्ठभूमि तैयार की जाती है ताकि

भय-साहस-निर्जन वातावरण और शरीर के इस्तेमाल के लिए उपयुक्त माहौल रचा जा सके। पृष्ठ भूमि तैयार हुई। माहौल रचा गया और सब स्पष्ट कर दिया गया कि भाई यह **कयामत से कयामत तक** फ़िल्म है। पैसा कमाने के लिऐ बनायी गयी है। इससे कुछ अधिक अपेक्षा रखना हिमाकत है या फिर मूर्खता। शिकार-सीतापुर के बीच गुंडों द्वारा लड़की से भरपूर वयस्क छेड़ है जो छेड़ कम उत्पात अधिक नज़र आती है। फिर नायक-नायिका के बीच ज़रूरत फ़र्ज़ की तरह शामिल होती है। नायिका प्रतिकार करती है। नायक और लगभग रेस्टोरेंट से ही पीछा कर रहे गुंडों के बीच युद्ध होता है। हरी-भरी घास पर लड़ाई के दृश्यों की संरचना उत्तम है तथा उसका फ़िल्मांकन बहुत आकर्षक है। उसके बाद पहले से ही प्रभावित लड़की संरक्षण के एहसास से दब कर और समर्पित हो जाती है। यहाँ पर जूही चावला का इस्तेमाल एलिजाबेथ टेलर की टोन में सिमी की तरह किया गया है। एक संवाद में जब रश्मि (जूही चावला) अपने प्रेमी राज (आमीर खान) से कहती है कि, "हम पर आप का बहुत अच्छा इम्प्रेशन पड़ा है" तो लिज टेलर का टोन, सिमी की अदायगी और जूही चावला की मौलिकता एक साथ दर्शक को अभिभूत करते हैं और इसमें राजसी अनुभूति, आकर्षक ढंग से, बेबाक फकीरी अख़्तियार कर लेती है। पर यह तमाम घटाटोप प्रेमानुभूति के विरुद्ध ही जाता है, उसके साथ नहीं होता। जंगल में रात का एकान्त डर पैदा करते-करते शारीरिक गंध से जूही-आमीर को पास-पास लाते हैं और जो अभी एक दूसरे से मानसिक दूरी बनाये हुए थे वे ही एक दूसरे में गुँथ कर चुम्बन-आलिंगन में आलिप्त हो गये। यह रचना सधे मन से दृश्य में दर्शक को शामिल करने की चाल है। यहाँ पात्र कथा से बाहर निकल जाते हैं और दर्शक उसमें घुस जाते हैं। आमीर-जूही आलिंगन नितान्त मशीनी तथा ज़ल्दीबाज़ी में वक्त का उपयोग मात्र नज़र आता है जिसमें प्रेम के मूल तत्वों का मर्दन ही हुआ दिखता है। इस जगह पर नायक-नायिका को उत्तेजक पदार्थ की तरह दर्शक के उपर फेंक दिया गया है जिसे या तो व्यसन की तरह इस्तेमाल किया जा सकता है या कुटेव की तरह।

आपस में रश्मि-राज जिस प्रकार पास आ चुके हैं उसके आगे कहानी को खिसकाने में दो ख़तरे स्पष्ट नज़र आते हैं। पहला यह कि और अधिक पास लाने में तथाकथित फ़िल्मी नैतिकता में वह गिरावट आ जाती है जहाँ से उसके प्रदर्शन में रुकावट आ सकती थी या उसकी कोशिश मात्र से फ़िल्म का प्रदर्शन हानिकारक विलम्ब को आमंत्रित कर लेता। दूसरा यह कि वह नीरसता आ जाती जिससे बॉक्स ऑफिस पर नुकसान संभव था। अतः सोच समझ कर उनके अनजानेपन को छोड़ कर रश्मि-राज के बीच पनप रहे आकर्षण को उनके क्रूर अभिभावकों तक इस प्रकार पहुँचाया जाये जैसे कोई उत्तेजना पैदा हो। उस उत्तेजना को दर्शकों तक पहुँचाया जाये। इस काम को **बॉबी** और उसके बाद की फ़िल्मों में भी इसी अंदाज़ से अंज़ाम दिया गया है। इसके बाद नाटकीय संवादों और चरित्र अभिनेताओं के नाटकीय अभिनय की मार्फ़त ताली पिटवाने में आसानी हो जाती है। **कयामत से कयामत**

तक में इस मोड़ का ज़िम्मा दिलीप ताहिल को सौंपा गया है जिसे आलोकनाथ के सहयोग से उन्होंने खूबी से निभाया है।

अब प्रेम का वह चित्र स्पष्ट हो जाता जो पलायन वादी फ्रेम में आकर्षण की इति की तरह फिट बैठ जाता है लड़का-लड़की एक दूसरे के लिए बेताब हैं जिसमें से संकोच को कतर-ब्यौंत कर बाहर कर दिया गया है और अब उत्सर्ग का समय आ गया दिखता है। हिम्मत दिखा कर लड़का-लड़की को भगाने पर तुल गया है। इस फ़िल्म में इतनी सर्तकता ज़रूर बरती गयी है कि पूर्व फ़िल्मों की तरह एक पक्ष, कोई भी एक पक्ष इस रिश्ते के समर्थन में नहीं है। पिछली फ़िल्मों में लड़का अथवा लड़की में एक के परिवार वाले साथ होते रहे हैं मगर पारिवारिक सतह पर **कयामत से कयामत तक** में दोनों पक्ष इस रिश्ते के घनघोर विरोधी हैं। और हर क्षण मरने-मारने पर उतारू रहते हैं। इस स्थिति का दुहरा लाभ है और दुहरा नुकसान भी। लाभ यह कि लड़का-लड़की दोनों बराबरी की ज़मीन पर अपने को परिवेश से अलग पाते हैं तथा दर्शकों की उस पीढ़ी पर अपनी हमदर्दी उँडेल सकते हैं जहाँ से स्वयं उन्हें इसी सहानुभूति की आवश्यकता है। दूसरा यह कि उस ख़ालिस पलायन को सामाजिक विद्रोह का स्वरूप देकर नायकत्व स्थापित करना सरल हो जाता है। नुकसान यह कि किसी एक चीज़ के विरुद्ध होकर भी दो परिवार आपस में और कमज़ोर हो जाते हैं तथा केवल दो किशोरों के ख़िलाफ़ होकर भी वे उन्हें न दबा पाते न समझा पाते और केवल जोकर नज़र आने लगते हैं। यहाँ तक आते-आते यह बात साफ़ हो जाती है कि फ़िल्म की बुनियाद से लेकर छत तक ख़ासे-खोखले ईंट गारे के हैं। जिनमें किसी भी विचार को महफूज़ रख पाना संभव नहीं— प्रेम तो क्या नफ़रत भी। अब तो एक कहानी भर पूरी करना है चाहे जिस तरह हो। और बात जब इस मजबूरी की शक्ल में ढल जाती है "कि चाहे जैसे भी हो"— तो तर्क और बुद्धि का इस्तेमाल इस चीज़ में किया जाता है कि दर्शक जो भी हो आगे बुद्धि व तर्क का इस्तेमाल कर ही न पाये। इसका सरल सा रास्ता है *तेज़ी।* भरपूर तेज़ी जिसमें कुछ भी साफ़ दिखे ही नहीं।
रश्मि-राज के संबंधों का पता जब दिलीप ताहिल को लगता है तो वह रश्मि से कहता है, "अगर राज तुमसे मिलेगा तो उसके टुकड़े-टुकड़े कर दूँगा" यहाँ यह देखना बताना आवश्यक लगता है कि दिलीप ताहिल आमीर खान (राज) के पिता की भूमिका में हैं। यहाँ प्रेम की धज्जियाँ इस तरह उड़ती हैं कि उसके रेशे-रेशे साफ़ नज़र आते हैं। एक-एक को पकड़ कर देखें— दिलीप ने यह धमकी अपने बेटे को नहीं दी "कि तुम रश्मि से मिले तो रश्मि के टुकड़े-टुकड़े कर दूँगा" क्योंकि ऐसा तो पारिवारिक नफ़रत के तहत वे स्वाभाविक ढंग से कर सकते थे। यानी लड़की के मन में पनप रहे/या पनपे हुए प्रेम की धज्जियाँ। खुद पिता तुल्य होकर यह बात पुत्री तुल्य लड़की से करना— यानी सहज वात्सल्य-जनित प्रेम की धज्जियाँ। लड़के की माँ को यह पता है— यानी सामान्य करुणा जनित प्रेम की

धज्जियाँ। और यदि वास्तव में वैसा कर दे तो पुत्र-पिता के बीच के प्रेम की धज्जियाँ। लड़के को यह संवाद नहीं मालूम और अगर अज्ञात मासूमियत के तहत ही वह लड़की से मिल ले तो मासूम-प्रेम की धज्जियाँ। लड़की यह विश्वास कर ले और लड़के को न बताये तो रिश्तों में पनप रहे विश्वास-जनित प्रेम की धज्जियाँ। अच्छा होता यदि यह संवाद सरे आम वह अपने बेटे और उसकी प्रेमिका के सामने कहता तो प्रेम इतने कोणों से नहीं कटता। हालाँकि प्रेम के बारे में कहते हैं कि वह ईश्वर और सत्य की तरह अमर है लेकिन सामान्य व्यवहार में प्रेम का आहत होना रोज नज़र आता है दिनचर्या की तरह। **कयामत से कयामत तक** प्रेम की इस तरह परीक्षा लेती है जैसे अमरता का वरदान पाये बच्चे को तलवार की धार पर लटका दिया गया हो।

उपरोक्त दृश्य को अगर फ़िल्म के भीतर से देखें तो भी दिलीप ताहिल द्वारा जूही चावला को दी गयी धमकी दुधारी तलवार नज़र आती है जिसमें यदि रश्मि अपने प्रेम के लिए आमीर खान से मिलना छोड़ देती है तो भी प्रेम ही जीतता है और अगर अपने प्रेम के चलते वह आमीर खान से मिलती ही रहती है (काबू नहीं रख पातीं) तो भी प्रेम ही जीतता है चाहे इसमें लड़के की जान ही चली जाये। कुल मिलाकर बाप द्वारा अपने बेटे के लिए इस प्रकार की धमकी यह तो साबित कर ही देती है कि खुद उसके प्यार में वह शक्ति और सच्चाई नहीं बची जिससे वह अपने बेटे को रश्मि से मिलने से रोक ले— बल्कि इसके लिए भी वह अपने बेटे के प्यार का इस्तेमाल ही करना चाहता है। इस प्रकार दृश्य आयोजन प्रेम के लिए विष हैं और ताज्जुब यह कि इसे दवा पथ्य की तरह **कयामत से कयामत तक** में प्रस्तुत किया गया है।

इसके बाद लड़का-लड़की नये सिरे से मिलना शुरू करते हैं जिसमें और अधिक चाशनी डालने का वातावरण बन जाता है। ज़ाहिर है कि अनचाहे संबंधों का पता लगने के बाद दोनों तरफ़ के पहरे और अधिक सख़्त कर दिये जाते हैं। दोनों साधन सम्पन्न परिवारों के लिए टोह लेने और ख़बर करने वाले और अधिक सक्रिय हो जाते हैं। ऐसे में लड़की-लड़के का मिलना प्रेम के आवेग की परिणति लगने की बजाय एक रोचक करतब नज़र आने लगता है जासूसी फ़िल्मों के *थ्रिल* सरीखा। इस मिलन में चालाकी बहादुरी तो नज़र आती है मगर वह प्रेम लापता हो ज़ाता है जिसके लिए यह सारी बुनावट की जाती है मतलब यह कि लिफ़ाफ़ा-लेबल तो प्रेम का मगर भीतर नफ़रत ही नफ़रत और केवल उत्तेजना।

इस फ़िल्म में बेटे-बेटियों के लिए बार-बार कहा गया है कि वे अपने माँ-बाप की जागीर नहीं हैं। प्रगतिशील सोच और सही-ग़लत के बीच यह बात नागवार गुज़रनी भी नहीं चाहिए किन्तु पूरी फ़िल्म में बेटे-बेटी अपनी हरकतों से जागीर की तरह ही खुद को स्थापित करते हैं और उनके बीच के रिश्ते केवल व्यक्तिगत आकर्षण की तरह ही सामने आते हैं उसमें दोनों परिवार बार-बार खुद को उलझाकर यह रस

क़ायम रखते हैं कि बच्चों के चलते ही उनके बीच आग्नेय तनाव क़ायम है। बच्चे यह बताते हैं कि वे दोनों परिवारों के बीच स्थापित नफ़रत के वारिस नहीं बनेंगे। सबसे अच्छी बात यही होती अगर ऐसा होता, किन्तु अफ़सोस की बात यही है कि ऐसा साबित नहीं होता बल्कि पूरी फ़िल्म इस बात को रेखांकित करती है कि वे अपरिवारों के बीच की नफ़रत के ही वारिस हैं। वास्तव में एक वाक्य में अच्छाई की नसीहत देने का यह पुराना फ़ार्मूला है। पूरी फ़िल्म में अच्छाई को पीट-पीट कर धराशायी करते हुए अन्त में अच्छाई को अच्छा कहा और मामला समाप्त।

कयामत से कयामत तक को यूँ किशोर फ़िल्म या किशोर प्रेम फ़िल्म के रूप में प्रचारित नहीं किया गया था। लेकिन इसकी चर्चा इसलिए करना आवश्यक लगता है क्योंकि पूरी फ़िल्म किशोरों के आपसी आकर्षण और नफ़रत की पृष्ठभूमि में ही चलती है। यदि इस फ़िल्म को किशोर मन की इच्छाओं तथा उनकी आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर बनाया गया होता तो इसी कथा में बहुत सारे सवाल और सत्य उभर कर सामने आये होते। नफ़रत अपने आप में समाज का घातक तत्व है और प्रेम उसकी एकमात्र दवा। ऐसे में किशोर युगल द्वारा या तो ऐसे प्रेम प्रसंग की आवश्यकता थी जो नफ़रत की आग में जल रहे परिवारों पर ठंडी भावनाओं की फुहार करता और उन्हें अपनी ग़लती का एहसास होता या फिर उनसे ऐसा व्यवहार कराया जाता जो तार्किक ढंग से दोनों परिवारों को कलह से उबारता। ऐसा उन दो स्थितियों से संभव था जिसमें किशोरों को या तो मासूम मान लिया जाता या फिर समझदार। इस फ़िल्म में किशोरों को निर्देशक ने व्यापार की आवश्यकता के अनुसार मासूम और समझदार बनाकर इस तरह पेश किया है जैसे *नफ़रत* यदि दोनों परिवारों की आपसी जिद है तो प्रेम किशोरों का हठ। यदि यह हठ भी प्रेम को नफ़रत पर विश्वसनीय तरीके से वर्चस्व पाता तो भी बहुत हद तक जायज़ मान लिया जाता। मगर इस फ़िल्म में *प्रेम* नफ़रत को छेड़ता है, उत्तेजित करता है, *टीज़* करता है जिसके जवाब में नफ़रत सारे नागवार हथकंडे अपनाती है और *प्रेम* केवल खिलवाड़ करता नज़र आता है जो कि खुद निर्देशक का *प्रेम* से खिलवाड़ है।

जासूसी *थ्रिल* के चलते राज-रश्मि अपनी पुरानी फ़िल्मों के पद-चिन्हों पर चलते हैं और मोटर साइकिल, ट्रक इत्यादि के पुराने ही साधनों से भाग खड़े होते हैं। पता नहीं प्रेम को पलायनवादी प्रवृत्ति के लिए ही क्यों प्रयोग किया जाता है। समय से जूझने, अपने सत्य के लिए संघर्ष करने और सही के लिए हिम्मत करने की सीख *प्रेम* क्यों नहीं देता? लड़का-लड़की भागे सुनसान पहाड़ी पर निर्जन मन्दिर में पहुँचे। लड़की ने अपनी माँग सौंपी। लड़के ने ऊंगली में नश्तर से घाव किया और सिन्दूर का रंग लड़की की माँग में भर दिया। वीरता दिखाई और दर्शकों की वाहवाही प्राप्त की। इस चित्रंण में जहाँ क्रूरता व्यर्थ ही वीरता और साहस के रूप में गौरवान्वित होती है वहीं मासूम और कोमल भावनाएँ घुट कर दम तोड़ देती हैं। यदि सामाजिक रीति रिवाजों का इतना ही ख़याल है तो भाई जहाँ से जीने के लिए

दाल-चावल, आटा-तेल की व्यवसाय करते हो लकड़ी जुटाते हो वहीं से चुटकी भर सिंदूर भी जुटा लाओ मगर अकारण ही सुकोमल भावनाओं और संवेदनाओं का गला मत घोटो।

कयामत से कयामत तक ने जिस निर्जन में घर की परिकल्पना की है तथा पहाड़ी पर जिस तरह से उसे रचा है वह सामाजिक व्यवस्था अथवा अव्यवस्था का अंग नहीं लगता और ऐसे में सुहाग सिन्दूर भी फ़िल्म की फ़िल्मी व्यवस्था का ही हिस्सा नज़र आता है। इस फ़िल्म ने अपनी पिछली फ़िल्मों की परम्परा को आगे बढ़ाया। इस स्थिति तक आते-आते पिछली फ़िल्मों में, जोड़े के रिश्ते को किसी एक पक्ष की सहमति मिल चुकी होती है तथा भाग दौड़ में दूसरा भी इसे स्वीकार कर लेता है। मगर इस फ़िल्म में हत्या करवाने के लिए किराये के हत्यारे बाक़ायदा तय किये जाते हैं और अन्ततः दोनों किशोर अपने ही अभिभावकों के हाथों मारे जाते हैं। इस उत्सर्ग, बलिदान से जो करूणा उत्पन्न होनी चाहिए थी वह भी किशोरों की प्रेम के नाम पर दी गयी बलि को गौरवान्वित करने के चक्कर में नहीं होती और यूँ फ़िल्म... **कयामत तक** पहुँच जाती है। कुल मिलाकर यह प्रेम के नाम पर प्रेम की हत्या की फ़िल्म है जिसे नाम दिया गया है **कयामत से कयामत तक।**

कयामत से कयामत तक ने जिस निर्जन में घर की परिकल्पना की है तथा पहाड़ी पर जिस तरह से उसे रचा है वह सामाजिक व्यवस्था अथवा अव्यवस्था का अंग नहीं लगता और ऐसे में सुहाग सिन्दूर भी फ़िल्म की फ़िल्मी व्यवस्था का ही हिस्सा नज़र आता है। इस फ़िल्म ने अपनी पिछली फ़िल्मों की परम्परा को आगे बढ़ाया। इस स्थिति तक आते-आते पिछली फ़िल्मों में, जोड़े के रिश्ते को किसी एक पक्ष की सहमति मिल चुकी होती है तथा भाग दौड़ में दूसरा भी इसे स्वीकार कर लेता है। मगर इस फ़िल्म में हत्या करवाने के लिए किराये के हत्यारे बाक़ायदा तय किये जाते हैं और अन्ततः दोनों किशोर अपने ही अभिभावकों के हाथों मारे जाते हैं। इस उत्सर्ग, बलिदान से जो करूणा उत्पन्न होनी चाहिए थी वह भी किशोरों की प्रेम के नाम पर दी गयी बलि को गौरवान्वित करने के चक्कर में नहीं होती और यूँ फ़िल्म... **कयामत तक** पहुँच जाती है। कुल मिलाकर यह प्रेम के नाम पर प्रेम की हत्या की फ़िल्म है जिसे नाम दिया गया है **कयामत से कयामत तक।**

5
मैंने प्यार किया

किशोर-प्रेम और सिनेमा का जिक्र करते हुए एक ओर **बॉबी** से लेकर **दिल** तक की बॉक्स ऑफ़िस पर भरपूर मुनाफ़ा देने वाली फ़िल्मों की नैतिक पतन की यात्रा नज़र आती है तो दूसरी तरफ़ **मैंने प्यार किया** की प्रेम के प्रति साफ सुथरी आस्था दिखती है। वास्तव में **बॉबी, बेताब, लव स्टोरी, कयामत से कयामत तक** तथा **दिल** ने जिस प्रकार प्रेम को आहत किया तथा उसे लगभग असामाजिक कर्म के रूप में चित्रित कर दिया उससे प्रेम का निर्वाह एक साहसिक और कुछ-कुछ आतंकित कर देने वाला कर्म नज़र आने लगा था। इधर हाल की प्रेम फ़िल्मों को तो देखकर लगने लगा था कि जैसे मामूली आदमी के बस का प्रेम है ही नहीं। प्रेम करना गोया डाका डालना, चोरी करना हो। **मैंने प्यार किया** ने प्रेम को सहज सामाजिक नैतिक कर्म के रूप में प्रतिष्ठित तो किया ही किया, प्रेम व्यवहारों में सब कुछ जायज़ है की अत्याधुनिक व्याख्या तथा इस आशय को आयातित विचार को भी खारिज़ किया है।

प्रेम की नैतिक व्याख्या के लिए अबूझ वक्तव्यों तथा गूढ़ व्यवहारों की शास्त्रीय पद्धति की बजाय इस फ़िल्म ने सहज, सुबोध, सुगम फ़िल्म शैली अपनायी है जिसे सीधे सादे शब्दों में व्यावसायिक कह सकते हैं। व्यावसायिक शब्द जिस सस्तेपन का पर्याय बन चुका है उससे अलग चूँकि इस फ़िल्म ने इस जगह वर्णित तमाम फ़िल्मों की अपेक्षा बेहतर व्यवसाय किया है तथा मुनाफ़ा कमाया है इसलिए इसे व्यावसायिक फ़िल्म कहना, घटिया अथवा सस्ती फ़िल्म कहना नहीं मानना चाहिए। प्रेम के सभी पक्ष अगर गौर से उकेरे जाएँ तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि आख़िर अमुक फ़िल्म के निर्माण के पीछे नीयत कौन सी है और जो चीज़ दर्शक के सामने पेश की गयी है वह है क्या?

मैंने प्यार किया फ़िल्म पर गौर करते हुए नीयत और निर्माण के स्वरूप पर ज़िक्र करना ज़रूरी लगता है और वह भी ज़रा ठहर कर। लाखों-करोड़ों लगा कर फ़िल्म का निर्माण दानवीरता अथवा समाज सुधारक इच्छा के चलते कोई करे यह लफ़्फ़ाजी जैसा विचार है अतः इसको विचारने के थोड़े से मुद्दे और कसौटियाँ बचती हैं।

एक तो ये कि ये फ़िल्में उत्पादन है और इनका निर्माण व्यवसाय। इस नज़रिये से आज के सजग उपभोक्ता के संस्कारों के लिए निर्माण की गुणवत्ता तथा उत्पादन की भव्यता के बीच संतुलन आवश्यक नज़र आता है क्योंकि *प्रोडक्ट* की *क्वालिटी* उसके व्यापार का आधार है इस तमाम विज्ञापन बाज़ी के बाद भी, अतः घटिया फ़िल्म का निर्माण व्यापार की नैतिकता के ख़िलाफ़ तो है ही व्यापार की आवश्यकता के भी ख़िलाफ़ है। दूसरा विचार यह हो सकता है कि ये फ़िल्में सृजन हैं और यह एक कला-कर्म हैं। तो फिर उक्त प्रकार की फ़िल्में बिना तर्क अपने आप में ही खारिज हो जाती हैं क्योंकि इनमें कला के मौलिक तथा आधारभूत तत्व *सत्यं शिवं सुन्दरम्* हैं ही नहीं। अगर ठोंक पीट कर इसे *सुन्दर* और *सत्य* के *लेबल* से सजा भी दिया जाता है तो भी ये *शिवं* किसी कोण से नहीं हो पाती। और तीसरी आवश्यकता इसके निर्माण की विवशता है कि साहब हम फ़िल्म वाले हैं फ़िल्म नहीं बनायेंगे तो करेंगे क्या और खायेंगे क्या? यहीं हमें आपत्ति है। खाने के लिए पेशे की विवशता प्रस्तुति को जायज़ नहीं बना देती। ख़ास कर इस स्थिति में जब प्रस्तुति समय के विकार को आकर्षक बनाये और उसे ग्राह्य और स्वादिष्ट बनाकर एक पीढ़ी को इसकी लत लगा दे। यह विवशता नहीं है न निर्माता की, न दर्शक की। यह आवश्यकता भी नहीं। यह एक साजिश है, छद्म-छल है, कुटिल प्रयास है कि आप को अपने थोक बन्द अछूते अनैतिक विचारों, कुंठाओं का नशा बेचने के लिए, व्यापारिक सैरग़ाह चाहिए। इसलिए पहले आप इसकी लत लगाते हैं। और एक बार लत लग जाने पर थोक का बाज़ार क़ायम करना आसान हो जाता है। **मैंने प्यार किया** ने इसी कुटिल-सिनेमा के बाज़ार में, अपने आप को अच्छे *प्रोडक्ट* की तरह पेश किया है। यह न तो सृजन का दावा करती है, न कला की नकाब पहनती है, बल्कि साफ़-साफ़ तरीक़े से व्यापारिक नैतिकता निबाहते हुए यह विचार स्थापित करती है कि ग्राहक को उम्दा प्रोडक्ट उपलब्ध कराओ अपने आप व्यापार सफल होगा। प्रेम के सामान्य से लगने वाले अनुभव इस फ़िल्म में कई-कई कोणों से प्रभावित करते हैं। मानव-मानव के बीच सहअस्तित्व और बन्धुत्व को मित्रता की अनुभूति से रंग कर, राजीव वर्मा तथा आलोकनाथ को उस प्रेम से अभिसंचित किया गया हैं जहाँ से रुपया-पैसा, सम्मान शान बौने नज़र आने लगते हैं, बिना किसी अतिरिक्त घटियापन के, और प्रेम जीवन की खेती की स्वास्थ्यवर्द्धक पैदावार नज़र आने लगता। अतीत की मित्रता, वर्तमान का अहंकार तथा टकराव व भविष्य का समर्पण कुल मिलाकर मित्रता और प्रेम को मनुष्य मात्र के लिए आवश्यक अनुभूति के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

मैंने प्यार किया पूरी तरह से प्रेम फ़िल्म है। इसके मुख्य पात्र सलमान खान और भाग्यश्री तो ख़ैर प्रेम की मुख्य अनुभूति के साथ कथा के मूल में हैं ही, किन्तु इसके अन्य पात्र भी प्रेम को अलग-अलग संवेदनाओं के साथ छूते हैं और इस स्पर्श को दर्शक तक सफलता के साथ पहुँचाते भी हैं। प्रेम का मित्र मनोहर जो एक अनाथ बालक के रूप में प्रेम के घर में पलता-बढ़ता है, सामान्य मानवीय

अनुभूतियों के साथ लगातार करुणा के साथ मनमोहता रहता है। विशुद्ध हास्य के साथ भी। संवाद, पटकथा, अभिनय निर्देशन कुल मिलाकर एक सुरुचि पूर्ण आग्रह के साथ आदमी और आदमीयत को एकीकृत करते हैं और कुरुचिपूर्ण फ़िल्मों के इसी छद्म को उद्घाटित भी करते हैं कि वे फ़िल्में किस चतुराई के साथ आदमी को आदमीयत से अलग कर देती हैं, वह भी भव्यता के साथ।

आलोकनाथ का अपनी बेटी को, अपने मित्र राजीव वर्मा के घर छोड़ क़र विदेश जाना एक छोटा सा दृश्य है। इस दृश्य में आलोकनाथ का चरित्र, भोले किन्तु मेहनती, सरल और विश्वासी व्यक्ति के रूप में उभरता है और राजीव वर्मा का चरित्र एक संकोची, अभिमानी, अमीर का। भाग्यश्री एक सहज ग्रामीण किन्तु आधुनिक सोच-विचारों से अवगत लड़की के रूप में प्रस्तुत होती हैं। इस दृश्य का जिक्र इसलिए जरूरी लगता है कि इसमें सहज विश्वास की अति, नाटकीयता के साथ होकर भी नाटकीय नहीं बल्कि सहज कर्म के रूप में सामाजिक दिनचर्या नज़र आती है। आधुनिकता केवल विचार अथवा आत्मविस्मृति के रूप में न आकर, व्यवहार का हिस्सा नज़र आती है, और यह दृश्य फ़िल्म का विशिष्ट नहीं सामान्य दृश्य है। विशिष्ट दृश्य तो रेखांकित होते ही हैं और होंगे ही, परन्तु किसी फ़िल्म के सामान्य दृश्य उस फ़िल्म का वास्तविक स्वाद बताते हैं तथा उसी से फ़िल्म में अन्तर्निहित विचार भी स्पष्ट होता है। इस दृश्य के माध्यम से आदमी-आदमी के बीच का विश्वास और प्रेम, स्थापित होते हैं। यहीं वह आधार भी पैदा होता है जहाँ से प्रेम का अंकुरण स्वस्थ व स्वाभाविक होता लगता है। जिस विश्वास से पिता अपनी पुत्री को मित्र के घर में छोड़ कर जाता है वह स्वयंसिद्ध शक्ति और कवच की तरह पुत्री की मानसिक शक्ति के रूप में स्थापित हो जाता है। इस जगह आलोकनाथ का अपने मित्र का बदला चरित्र न भाँप पाना एक ओर भावुक और भोले चरित्र का स्वरूप देता है तो दूसरी ओर मित्र के छोटे-मोटे चुभने वाले बर्ताव को भी दर गुज़र करने के चलन को स्थापित करता है क्योंकि रिश्तों की तकलीफ़ का अंतर्संबंध विच्छेद में नहीं, संबंध सुधार में है, उसके स्वीकार में है। राजीव वर्मा अतीत के उपकार को जिस तरह आर्थिक तराज़ू में तौलता है, उसे भव्यता बढ़ाने की बजाय *अण्डरटोन* रखा गया है जो स्वयं इसे ग़लत खयाल के रूप में व्यक्त कर देता है और प्रेम की अंतर्धारा सूखने नहीं पाती और न खंडित होती। बिटिया सुमन (भाग्यश्री) जिस प्रकार पिता-मित्र की पत्नी को माँ के रूप में स्वीकारती है और घर में सहज हो जाती है वह अस्वाभाविक होकर भी प्रेमानुभूति से सामाजिक व्यवहार की सुगंध बिखेरती लगती है। विश्वास की ज़मीन सौंप कर, आलोकनाथ की अनुपस्थिति उनकी उपस्थिति से अधिक कार्य करती है और एक अमूर्त संसार, काफ़ी बड़े आयाम के साथ प्रेम की विराटता को अनुभूत कराता है, जिसमें सुमन (भाग्यश्री) स्वतः महत्वपूर्ण किरदार बन जाती है।

इस फ़िल्म में प्रेम के साथ सामाजिक अच्छाइयों के प्रति भी संवेदनशीलता बरती

गयी है और हल्के-फुल्के दृश्यों के सहारे ग़लत को ग़लत की तरह, और सही को सही की तरह ही प्रस्तुत किया गया। प्रेम एक तरह के उपचार और सामाजिक मूल्यों की रक्षा का निर्वाह भी करता है। नायक विदेश से लौटा है। इस पृष्ठभूमि से एक फ़ायदा यह है कि उसे दक़ियानूस *ओल्डफैशन्ड* कह कर खारिज़ नहीं कर सकते। वह सिगरेट का शौक़ करता है। नायिका उसे ग़लत मानती है और नायक के मित्र के साथ मिलकर स्वस्थ तथा गुदगुदाते हास्य के साथ, नायक को यह विश्वास दिला देती है कि, सिगरेट पीना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। यह वैधानिक चेतावनी जैसा अनिवार्य वाक्य नहीं है और न उसका स्वीकार कोर्ट के नोटिस सरीखा है। बल्कि यह सब एक सुखद प्रेमानुभूति है और बुरी चीज़ की बुराई को सहज ढंग से अस्वीकार करने का सामान्य कर्म है।

विकृत सिनेमा वालों का एक फ़तवा और क़ाबिले गौर है कि, अब उपदेश कोई नहीं सुनना चाहता, लोगों को मनोरंजन चाहिए और वही हम देते हैं। आख़िर अच्छाई की जीत को कब तक दुहराते दिखाते बजाते रहें?'' कितना विश्वसनीय लगता है यह विचार? पर विनाश की आधारशिला इसी विश्वास में है। अन्यथा यह कहना हास्यास्पद ही नहीं, अवैधानिक भी लगता है कि अनाचार को प्रस्तुत करते वक़्त आप की मौलिकता तथा क्षमता में अचानक वृद्धि हो जाती है परन्तु सृजन के संस्कार पैदा करने में आप को नींद आने लगती है। प्यार और सेक्स को, युवा मानसिकता के शोषण के लिए, औज़ार के रूप प्रयोग करने को जायज़ साबित करने वाला बयान, विवशता नहीं हो सकता, यह केवल अपराध है। **मैंने प्यार किया** इन तमाम वक्तव्यों की कलई खोलती है और उसी धरातल पर खोलती है जहाँ पर तमाम मक्कार कोशिशें अपनी घड़ियाली बेबसी के आँसू बहाती हैं।

एक पार्टी के दृश्य में नायिका (भाग्यश्री), नायक (सुलेमान खान) के साथ जाती हैं। जहाँ नायक पर डोरे डाल रही लड़की का भाई नायिका के साथ अभद्रता से पेश आता है और कहता है कि, "आख़िर प्रेम (नायक) भी तो तुमसे वही चाहता है तथा तुम्हारे साथ वही करना चाहता है... जो मैं चाहता हूँ।'' लड़की केवल विवश आँसू बहाती और शक्ति भर प्रतिरोध करती है। तभी नायक को पता लगता है। वह आक्रमणकारी पर आक्रमण करता है। लड़की को मुक्त करता है। उस पर डोरे डाल रही लड़की और उसके भाई अचानक हाथ झाड़ लेते हैं और सारी बात को रफ़ा-दफ़ा करने का वातावरण बना देते हैं। पर लड़की आहत घर लौट जाती है और नायक एक तरह का भरपूर दुःख झेलता इस क़िस्से को अपने साथ जीता है। इस विशेष दृश्य की रचना खूब प्रभाव पैदा करती है और सिलसिलेवार ज़िक्र को आमंत्रण देती है। पहला सवाल यह कि क्या यह बुरी फ़िल्मों का चस्का है जो **मैंने प्यार किया** को भी डिगा गया? नहीं यह चस्का नहीं, आवश्यकता है क्योंकि ऐसी पार्टियाँ आज का आकर्षण भी हैं और सामाजिक सच भी। अतः उनको दिखाना समकालीन दृश्य संयोजन की आवश्यकता है, सवाल यह है कि उसको दिखाकर बताया क्या जाता है? गौर से देखें तो इस दृश्य से जो व्यावहारिक

फूहड़ता फूटती है वह इस *आयोजन* को अनावश्यक करार देती है और आहत संवेदना जिस धरातल पर करुणा को ताक़त की तरह प्रस्तुत करती है, वह इस छिछोरेपन को त्याज्य बताती है। इस दृश्य की सफलता ही इस बात में है कि नायक-नायिका सही लगने, लगते हैं, बाक़ी सब ग़लत। ये आकर्षण के आवश्यक तत्व वहीं से, अलग जलवायु के दरख़्त की तरह नज़र आते हैं, जहाँ आक्रामक पुरुष नारी से बलात्कार और संभोग को एक ही अर्थ में इस्तेमाल करता है। प्रेम और प्रहार को एक ही रंग में कहते हुए जिस तरह इनका स्याह-सफ़ेद स्पष्ट होता है वह वास्तव में बेहद कौशल पूर्ण संरचना नज़र आने लगती है। इस बात में और भी अर्थ नज़र आता है कि जहाँ तर्क, कुतर्क की ओर क़दम बढ़ाना शुरू करता है ठीक वहीं, पटकथा, संवाद और अभिनय उसकी सीमा रेखा तय कर देते हैं, कि यहाँ तक तर्क था और इसके आगे अब कुतर्क है। यह सफ़ाई प्रेम को सतही आकर्षण से निकाल कर अनिवार्य अनुभूति में ले जाती है। विकार के आग्रही सिनेमा में यही कुतर्क, तर्क की चाशनी में तर सामने आता है और बांप के सामने बेटा; बाप के संवाद बोलने लगता है और बाप जाने किसका बेटा नज़र आने लगता है। **मैंने प्यार किया** तर्क को ताक़त देती है और गरिमा भी प्रदान करती है। यहाँ शब्द और अर्थ एक साथ काम करते हैं। शब्द अपने स्थापित अर्थ से अलग हटने तथा बहुअर्थी होने की अश्लीलता नहीं अपनाते और प्रेम अश्लील हरकत की बजाय मर्यादित संस्कार नज़र आता है। इस दृश्य में नायिका पर किया गया हमला सुनियोजित षड़यंत्र है जिसमें नायक-नायिका के बीच पल रहे प्रेम को आहत-अपमानित करने का मंतव्य है। यह प्रसंग एक ओर हमलावर को भरपूर तरीक़े से दर्शकीय नफ़रत देता है तो दूसरी ओर नायिका को आवश्यक सहानुभूति। यह असफल दृश्य रचना के साथ-साथ नैतिक ज़िम्मेदारी का निर्वाह भी नज़र आता है। इस घटना को, पार्टी में व्यस्त समाज के, कोढ़ के रूप में उभार कर निर्देशक जहाँ अपने सरोकार को साफ़ करता है, वहीं पिटने के बाद उसी समाज का व्यक्ति (खलनायिका का भाई) इसे जिस तरह सरलता से लेता है और "लेट अस फार्गेट... कम आन" कहता है वह उस समाज का पतन स्पष्ट करता है। उनके लिए ऐसे व्यंवहार के लिए देर तक आँसू बहाने का मतलब बेवकूफ़ी है। जिस समाज की सामान्य संवेदना भौतिक मूल्यों पर आधारित हो। जहाँ शरीर-शरीर के बीच *नाम* मात्र का अन्तर माना जाता है। जहाँ के मर्द, औरत तथा औरतें, मर्द-कपड़ों की तरह आसानी से बदल लेते हैं तथा आपस वे, निर्लज्जता से बचने की बजाय; एक, दूसरे को सौंदर्य प्रसाधन की तरह इस्तेमाल करते हैं, वहाँ औरत की अस्मिता पर हमला एक फ़ैशन माना जाता है, जिसे प्रगतिशील तथा जागरूक महिला अपने ही दायरे में अपना मान समझती है। उसे इसमें गौरवानुभूति होती है कि, उसमें इतना आर्कषण है कि व्यक्ति विशेष डिग गया और अपना धैर्य खोकर हमलावर हो गया। उस पतित समाज की आधुनिक व्याख्या को इतने कम समय व शब्दों में इस प्रकार स्पष्ट करके निदेशक ने दो अच्छे कार्य किये हैं एक तो ऐसे समाज को कम समय

तक पर्दे पर दिखा कर, व्यर्थ की गंदगी के विस्तार को रोका है तथा उक्त समाज की धारणा और उनके विचारों को बिना किसी अगर-मगर के खारिज़ किया है। नायिका द्वारा बिना *लाउड* हुए अपनी विवशता पर सिसकना तथा क्षमता भर हमले का प्रतिरोध, स्त्री की नैसर्गिक शारीरिक सुकोमलता व मानसिक शक्ति पर विश्वास का नमूना बन जाता है। इस जगह निर्देशकीय कौशल इस तरह स्थापित होता है कि, यह दृश्य संयोजन हमलावर और नायिका के बीच घटित घटना को दर्शक तक इस तरह ले जाता है जो झुंझलाहट अथवा 'निर्बल के बल राम' जैसी स्थिति निर्मित करने की बजाय दर्शक को मज़लूम की ओर खड़ा करता है। ख़राब सिनेमा ने एक ऐसी दर्शकीय रुचि का संस्कार पैदा कर दिया है, जहाँ नायक-नायिका पर किसी हमले को असाधारण बात मानी जाती है और नायक-नायिका द्वारा उसका अपनी औकात से बड़ा तथा अविश्वसनीय प्रतिकार साधारण बात की तरह स्वीकृत होती है। **मैंने प्यार किया** इस अतिअपेक्षा की अव्यावहारिक मानसिकता को तोड़ती है और सामान्य आदमीपन के साथ स्थितियों से निपटने की व्यावहारिक प्रेरणा देती है।

इसके बाद कुछ अनावश्यक भव्यता को पर्दे पर, केवल इस उद्देश्य से कि राजीव वर्मा बड़ा आदमी नज़र आये और पुत्र को भरपूर अवसर और सुविधाएँ देता दिखे, प्रस्तुत किया गया है। अनावश्यक इसलिए कि अपने चरित्र के प्रति न्याय करता राजीव वर्मा बिना इस भव्यता के भी वही नज़र आता है। इस व्यर्थता में मात्र व्यर्थता नज़र आती है अश्लीलता नहीं, जैसा कि **दिल** की पार्टी में धन का आपराधिक दुरुपयोग दिखता है और अश्लीलता का नंगापन भी सामने आता है। **मैंने प्यार किया** में इस प्रकार की अनावश्यक स्थितियों का उपयोग केवल व्यावसायिक सुरक्षा की दृष्टि से किया है अन्यथा उसमें कुछ आवश्यक नहीं तो अभद्र भी नहीं है।

छोटी-छोटी ज़रूरतों के तहत मिलते सलमान खान और भाग्यश्री किसी बहुत बड़े कलाकार की संभावना का न तो संकेत देते और न बेहद बचकाने ढंग से स्थितियों में समाते हैं। वे दोनों सरल ढंग से आँखों को बिना छेड़े अपनी हरकतों से विश्वसनीय लगते जाते हैं और इन्हीं मामूली ज़रूरतों के बीच विशिष्ट प्रेम पलने-बढ़ने लगता है। एक दूसरे की इस तरह आवश्यकता बढ़ने लगती है तथा पैसे के चलते *चाहत और राहत का खेल खेलता* अजीत वाच्छानी (राजीव वर्मा का ढोंगी व पैसे वाला मित्र) इस आवश्यकता को नाजायज़ साबित करने के लिए सामान्य-नाटकीय हथकंडों का सहारा लेता है तथा अतिनाटकीयता की संभावना पैदा करता है। यहाँ पर रेखांकित करने योग्य बात यह है कि यह सारी नाटकीयता किसी आसमानी तिलिस्म के लिए नहीं होती बल्कि प्रेम की आर्द्रता की टोह लेने के लिए होती है। जैसे ज्ञात प्रेम को चाहने के लिए कभी-कभी कृत्रिम अलगाव का सहारा लिया जाता है। यहाँ यह कार्य अजीत वाच्छानी अंजाम देते हैं जिससे दुहरा फ़ायदा हासिल होता है। एक ओर प्यार की थोड़ी थाह हो जाती है तो दूसरी ओर अजीत वाच्छानी दर्शकों की नज़र से ज़रा और गिरते हैं तथा पात्र को सजीव बनाने में क़ामयाब होते हैं।

अजीत वाच्छानी अपनी कूटनीति में क़ामयाब होते हैं और भाग्यश्री का भोलापन और आलोकनाथ का विश्वास चालबाज़ी करार दे दिया जाता है। इस प्रकार खुली चालबाज़ी सिनेमा में सच्चाई की तरह स्वीकार होकर भी दर्शक तक चालबाज़ी के रूप में ही पहुँचती है और भोला विश्वास सिनेमा में *चाल* स्वीकृत होकर भी दर्शक तक भोला-विश्वास ही बनकर पहुँचता है। गरज़ यह कि **मैंने प्यार किया** का स्थायी भाव प्रेम और सत्य ही है जो दर्शक को लुभाता-भुलाता-गुदगुदाता है मगर उसे व्यसनी नहीं बनाता। चस्का नहीं लगाता। आलोकनाथ का अपने ऊपर आरोपित छल का प्रतिकार बहुत प्रभावशाली है। तथा इस दृश्य में आर्थिक रूप से कमतर हैसियत के बावजूद वे अपने पसीने पर जिस प्रकार भरोसा करते दिखाये गये हैं वह पसीने से पैसा कमाने का उपदेश नहीं प्रेरणा की शक्ल में सामने आता है। यह इस फ़िल्म की बहुत बड़ी अच्छाई है कि काग़ज़ी उपदेशों को उनके ऊबाऊपन और अव्यावहारिक स्वरूप से निकाल कर विश्वसनीय, स्वीकार्य प्रेरणा के रूप में फ्रेम दर फ्रेम रखा गया है।

कथातत्व की आवश्यकता के रूप में उपयुक्त ढंग से ग़लत फहमियों का प्रयोग फ़िल्म को निरर्थक रहस्यमयता की बजाय प्रेम को स्वावलंबन और ज़िम्मेदारी की भावना जगाने वाला तत्व बनाता है। यही वह सबसे प्रबल बिन्दु है जहाँ **मैंने प्यार किया, बॉबी, बेताब, लव स्टोरी, कयामत से कयामत तक** या दिल जैसी फ़िल्मों से साफ़ तौर पर अलग होती है और ख़म ठोंक्कर उनके ख़िलाफ़ खड़ी होती है और जीतती है: **मैंने प्यार किया** की यह विजय बेमानी हो जाती अगर दर्शक इसे अस्वीकार कर देते। दर्शकों ने **मैंने प्यार किया** को चाहा और सराहा है। भरपूर उत्साह के साथ। इसका यह मतलब निकाल लेना कि दर्शक अच्छाइयों को पर्दे पर चाहने लगा है, या उसके संस्कार यकायक बदल गये हैं या दर्शकों की रुचि में परिवर्तन का रुझान नज़र आता है— एक सतही ख़याल है। क्योंकि दर्शक अगर ऐसा हो गया है तो फिर इसी फ़िल्म की समकालीन दिल खिड़की पर पिट गयी होती। अतः जैसा कि मैंने शुरू में ही कहा है— दर्शक पर कुरुचि का पूर्वग्रह लाद कर, अपनी ख़राब फ़िल्मों का बाज़ार ग़रम करने वालों की साजिश है— यह वक्तव्य। वास्तव में सिनेमा जब दर्शक को अपने भीतर खींच पाने में सफल हो जाता है तो खिड़की अपने आप मुनाफ़े का धंधा करने लगती है। इसलिए चाहे वह **बॉबी** हो या **मैंने प्यार किया** दोनों दर्शक को अपने भीतर खींच लाने में क़ामयाब हैं और दोनों ही सफल भी हैं। अब सवाल यह है कि फ़िल्म किस नीयत से दर्शक को अपने भीतर खींचती है? यही सवाल उसका नैतिक स्वरूप तय करती है। आलोकनाथ अपने सिसकते भोलेपन, और आहत विश्वास के साथ मित्र के घर से निकलते हैं। साथ में लगभग अपमानित बेटी भी है। इसके बाद नायक भी उसके पीछे जाता है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि इस पीछा करने में छेड़, छाड़, खिलवाड़ और मनोरंजन नहीं है। यहाँ है ज़िम्मेदारी का एहसास। प्रेम, यहाँ प्रेमी को पलायन के लिए उकसाता नहीं बल्कि ज़िन्दगी को समझने में सहायता

करता है। मुश्किलों का सामना करने का हौसला देता है। और कोमलता की पृष्ठभूमि पर देखें तो लगता है जैसे प्रेम आदमी को आदमी से जोड़ता भर नहीं बल्कि आदमी को समझने में भी मदद देता है। दूसरों की भावनाओं का आदर करना सिखाता है। यहाँ तक कि (जैसे इस दृश्य से स्पष्ट होता है) बड़ों द्वारा किये गये अपराध, बोले गये अभद्र बोलों के लिए छोटे क्षमा माँगने लगते हैं। यहाँ प्रेम द्वारा घर छोड़ कर जाने का निर्णय क्षणिक आवेश में उठाया गया क़दम या पलायन नहीं है। बल्कि सोच-समझकर लिया गया निर्णय है और ज़िम्मेदारी की अनुभूति की अभिव्यक्ति है। यहाँ प्रेम, दीवाना अथवा अभद्र नहीं बनाता बल्कि समझदार और विनम्र बनाता है। हठी बाप के सामने बेटा तन कर सहोदरी नहीं निभाने लगता या फिर गरज-गरज कर नये जमाने का पाठ नहीं पढ़ाने लग जाता। यहाँ पूरी विनम्रता से अपना विचार रखता है और जाते-जाते माँ से उसी आदर और विश्वास के साथ पूछता है, "मैं सही हूँ न माँ?" इस एक वाक्य के भरोसे नायक, पूरी फ़िल्म के प्रेम रस को, मनुष्य के लिए अनावश्यक रसायन के रूप में रख देता है तथा सही-ग़लत की समकालीन व्याख्या को झाड़-पोंछ कर साफ़ भी कर देता है। माँ-बाप को ठेंगा दिखाकर या चकमा देकर तेज़ रफ़्तार पलायन कर लेने वाला युगल इस फ़िल्म का नायक नहीं बना है, बल्कि माँ से, अपने उठाये गये क़दम पर निर्णय माँगने वाला युवक इसका नायक है जहाँ माँ पति के प्रेम को, पुत्र के प्रेम के लिए खारिज़ नहीं करती बल्कि केवल चुपचाप शादी के कंगन बेटे को सौंप देती है। यहाँ प्रेम का कोई स्वरूप आहत नहीन होता और बेटे का निर्णय स्वीकृत भी हो जाता है। रिश्तों में प्रेम भरने में समय लगता है पर उसका दुरुपयोग करने में, घायल करने में क्षण भर भी नहीं लगता— **मैंने प्यार किया** फ़िल्म का पूरा निर्वाह प्रेम की स्थापना में खर्च होता है, यह इस फ़िल्म की शक्ति है।

आलोकनाथ से उसकी बेटी का हाथ माँगने का साहस, समर्पण और स्वीकार की तरह सामने आता है तो उसकी प्राप्ति के बाद एक भरपूर आत्म विश्वास भी सामने खड़ा नज़र आता है। आलोकनाथ नायक को, कमाने और मेहनत करने की चुनौती पेश करता है। नायक स्वीकार करता है। ये दृश्य आवश्यकता से अधिक लम्बे खिंचे हैं। यहाँ चुस्त संपादन की आवश्यकता थी। पर हो सकता है कि इसको लम्बा खींच कर, नायक का यह इरादा स्पष्ट करने का प्रयास किया गया हो— "कि हम केवल लड़की हासिल करने के लिए ही श्रम करेंगे, ऐसी हमारी नीयत नहीं बल्कि श्रम-उद्यम हमारा स्थायी चरित्र है।" पसीने से पैसा उगाने की इच्छा जगा देने वाले दृश्यों की नैतिक शक्ति, फ़िल्म में प्यार को न तो ऐसा देवत्व प्रदान करता जिसकी जगह पूजा अर्चना में सिमट कर रह जाये और नहीं उसे हिंस्त्र संवेदना का स्वरूप देता जो केवल उन्माद बन कर मिट जाये। इस जिद्दोजेहद में प्यार एक मानवीय स्थायी भाव की तरह जागता है, समझता और समझाता है।

जब ट्रक चलाते लड़के से मिलने उसका अमीर बाप आता है और जिस तरह लड़का और बाप अपने विचारों के दो ध्रुवों पर खड़े होकर भी आपस में प्रेम से

जुड़े रहते हैं, वह अपने आप में प्रेम की व्यापकता का आकाश बन जाता है। कुल मिलाकर **मैंने प्यार किया** इस समय की किशोर-प्रेम पर बनी एक व्यापारिक सफल फ़िल्म ही नहीं है, बल्कि किशोर-प्रेम पर बनी एक आवश्यक, महत्वपूर्ण और अच्छी फ़िल्म भी है जिसका स्वागत नैतिक दायित्व और सामाजिक कर्तव्य है।

चाहे वह **बॉबी** हो या **मैंने प्यार किया** दोनों दर्शक को अपने भीतर खींच लाने में क़ामयाब हैं और दोनों ही सफल भी हैं। अब सवाल यह है कि फ़िल्म किस नीयत से दर्शक को अपने भीतर खींचती है? यही सवाल उसका नैतिक स्वरूप तय करती है। आलोकनाथ अपने सिसकते भोलेपन, और आहत विश्वास के साथ मित्र के घर से निकलते हैं। साथ में लगभग अपमानित बेटी भी है। इसके बाद नायक भी उसके पीछे जाता है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि इस पीछा करने में छेड़, छाड़, खिलवाड़ और मनोरंजन नहीं है। यहाँ है जिम्मेदारी का एहसास। प्रेम, यहाँ प्रेमी को पलायन के लिए उकसाता नहीं बल्कि ज़िन्दगी को समझने में सहायता करता है। मुश्किलों का सामना करने का हौसला देता है। और कोमलता की पृष्ठभूमि पर देखें तो लगता है जैसे प्रेम आदमी को आदमी से जोड़ता भर नहीं बल्कि आदमी को समझने में भी मदद देता है। दूसरों की भावनाओं का आदर करना सिखाता है। यहाँ तक कि (जैसे इस दृश्य से स्पष्ट होता है) बड़ों द्वारा किये गये अपराध, बोले गए अभद्र बोलों के लिए छोटे क्षमा मांगने लगते हैं। यहाँ प्रेम द्वारा घर छोड़ कर जाने का निर्णय क्षणिक आवेश में उठाया गया क़दम या पलायन नहीं है। बल्कि सोच-समझकर लिया गया निर्णय है और ज़िम्मेदारी की अनुभूति की अभिव्यक्ति है। यहाँ प्रेम, दीवाना अथवा अभद्र नहीं बनाता बल्कि समझदार और विनम्र बनाता है। हठी बाप के सामने बेटा तन कर सहोदरी नहीं निभाने लगता या फिर गरज-गरज कर नये जमाने का पाठ नहीं पढ़ाने लग जाता। यहाँ पूरी विनम्रता से अपना विचार रखता है और जाते-जाते माँ से उसी आदर और विश्वास के साथ पूछता है, "मैं सही हूँ न माँ?" इस एक वाक्य के भरोसे नायक, पूरी फ़िल्म के प्रेम रस को, मनुष्य के लिए अनावश्यक रसायन के रूप में रख देता है तथा सही-ग़लत की समकालीन व्याख्या को झाड़-पोंछ कर साफ़ भी कर देता है। माँ-बाप को ठेंगा दिखाकर या चकमा देकर तेज रफ्तार पलायन कर लेने वाला युगल इस फ़िल्म का नायक नहीं बना है, बल्कि माँ से, अपने उठाये गये क़दम पर निर्णय मांगने वाला युवक इसका नायक है जहाँ माँ पति के प्रेम को, पुत्र के प्रेम के लिए खारिज़ नहीं करती बल्कि केवल चुपचाप शादी के कंगन बेटे को सौंप देती है। यहाँ प्रेम का कोई स्वरूप आहत नहीन होता और बेटे का निर्णय स्वीकृत भी हो जाता है। रिश्तों में प्रेम भरने में समय लगता है पर उसका दुरुपयोग करने में, घायल करने में क्षण भर भी नहीं लगता— **मैंने प्यार किया** फ़िल्म का पूरा निर्वाह प्रेम की स्थापना में खर्च होता है, यह इस फ़िल्म की शक्ति है। आलोकनाथ से उसकी बेटी का हाथ माँगने का साहस, समर्पण और स्वीकार की

तरह सामने आता है तो उसकी प्राप्ति के बाद एक भरपूर आत्म विश्वास भी सामने खड़ा नज़र आता है। आलोकनाथ नायक को, कमाने और मेहनत करने की चुनौती पेश करता है। नायक स्वीकार करता है। ये दृश्य आवश्यकता से अधिक लम्बे खिंचे हैं। यहाँ चुस्त संपादन की आवश्यकता थी। पर हो सकता है कि इसको लम्बा खींच कर, नायक का यह इरादा स्पष्ट करने का प्रयास किया गया हो— "कि हम केवल लड़की हासिल करने के लिए ही श्रम करेंगे, ऐसी हमारी नीयत नहीं बल्कि श्रम-उद्यम हमारा स्थायी चरित्र है।" पसीने से पैसा उगाने की इच्छा जगा देने वाले दृश्यों की नैतिक शक्ति, फ़िल्म में प्यार को न तो ऐसा देवत्व प्रदान करता जिसकी जगह पूजा अर्चना में सिमट कर रह जाये और नहीं उसे हिंस्त्र संवेदना का स्वरूप देता जो केवल उन्माद बन कर मिट जाय। इस जिद्दोजेहद में प्यार एक मानवीय स्थायी भाव की तरह जागता है, समझता और समझाता है।

जब ट्रक चलाते लड़के से मिलने उसका अमीर बाप आता है और जिस तरह लड़का और बाप अपने विचारों के दो ध्रुवों पर खड़े होकर भी आपस में प्रेम से जुड़े रहते हैं, वह अपने आप में प्रेम की व्यापकता का आकाश बन जाता है। कुल मिलाकर **मैंने प्यार किया** इस समय की किशोर-प्रेम पर बनी एक व्यापारिक सफल फ़िल्म ही नहीं है, बल्कि किशोर-प्रेम पर बनी एक आवश्यक, महत्वपूर्ण और अच्छी फ़िल्म भी है जिसका स्वागत नैतिक दायित्व और सामाजिक कर्तव्य है।



6
दिल

प्रेम के नाम पर प्रचारित किशोर-प्रेम फ़िल्मों ने क़दम-दर-क़दम प्रेम को विकृत किया
है और इसकी अधोगति **दिल** में अपने चरम पर है। आगे आने वाली पतित फ़िल्म
का स्वरूप क्या होगा? यह सोच कर काँप जाता हूँ। क्योंकि **दिल** में ही वे सारी
गिरावटें पतन के तल तक पहुँची लगती है। संभव है आगे इसका निदान संभव
हो— क्योंकि कहते हैं कि उच्चतम शिखर तक चढ़ चुकने के बाद पतन ही संभव
है, तो फिर इसके उलट अतल-तल तक गिर जाने के बाद शायद उत्थान ही संभव
बचे। इस परिकल्पना को विश्वसनीय मानने से पूर्व यह डर भी लगता है कि
हमारी व्यावसायिक फ़िल्में कुछ मामलों में बेजोड़ हैं तथा घिनौना, कुरूप, कुत्सित,
क्रूर तथा अश्लील इत्यादि दिखाने में बेहद मौलिक हो जाती हैं। तो हो सकता है
कि **दिल** का पतन जिस ज्ञात गिरावट तक हुआ है उसके आगे ही वे खोज ज़ारी
रखें। पतन की नयी गहराइयां तलाशें, और हमें बताएँ कि अभी तक क्या देखा
है... अब देखो हम यहाँ तक गिर सकते हैं। आख़िर पतन की प्रतिस्पर्धा का भी
अनन्त होना असंभव तो नहीं।
इसलिए **दिल** की चर्चा उसी ढंग से कर रहा हूँ जिस ढंग से वह बनायी गयी है
और हम तक जिस रूप में पहुँची है। उसी संसार से सरोकार रखूँगा जो **दिल**
उपस्थित करती है। वास्तव में **दिल** एक *हॉरर* फ़िल्म की तरह डर पैदा करती है
और घोर असामाजिक हरकतों को सहज स्वीकार्य घटना की तरह प्रस्तुत करती है।
बॉबी में राजकपूर ने नैतिक मर्यादाओं को छेड़ा था। और कुछेक दृश्यों में कुछ
हद तक घायल भी किया था। एक उदाहरण उस दृश्य का दिया जा सकता है
जब नायिका को छेड़ते हुए एक खल-पात्र कहता है, ''ख़ूबसूरत लड़की को न छेड़ना
हमारे यहाँ बदतमीज़ी मानी जाती है।'' नैतिकता को *डेविएट* करने की यह छोटी-सी,
पर ख़तरनाक कोशिश थी। जिसका विरोध करना आवश्यक था। पर राजकपूर का
यह विष-बीज इस क़दर तेजी से पुष्पित-पल्लवित होगा और असाधारण रूप से घने
वृक्ष का आकार ले लेगा और भरपूर फल देने लगेगा; सम्भवतः उन्होंने भी नहीं
सोचा होगा। **दिल** में नैतिकताओं के विचलन का विष-वृक्ष है। समय का सम्पूर्ण
ज़हर इसके भीतर है तथा सौंदर्य-बोध के सबसे घटिया मानदंडों पर इसके मानक
तय किये गये हैं।

नायक आमीर खान और नायिका माधुरी दीक्षित दोनों ने ख़राब सिनेमा की सारी ख़राबियों को, खूबियों की तरह पर्दे पर पेश किया है। विचित्र यह कि यह सब उत्पीड़न ख़ालिस मनोरंजन के नाम पर प्रस्तुत किया जाता है। तकनीकी-उत्कृष्टता तथा वैज्ञानिक सोच यदि ग़लत दिशा में जाती है तो कितना भयानक दृश्य उपस्थित होगा यह **दिल** देख कर समझा जा सकता है। नायक अपने आप को वर्तमान किशोर पीढ़ी के प्रतिनिधि के रूप में प्रस्तुत करता है मगर वह किसी पीढ़ी का प्रतिनिधि नज़र नहीं आता। प्रारंभ में ही वह एक लड़की को छेड़ बैठता है, और उसके क्रोधित होने और ऐतराज़ करने पर राखी बढ़ा देता है। यह नायक चरित्र है या खलनायक? ऐसा नहीं है कि यह कोई बिगड़े नवयुवक के सुधर जाने की कहानी है, या यह पतनोन्मुख समाज का दस्तावेज़ है। यह पात्र जैसा कि मैंने पहले बताया सामान्य नवयुवक के प्रतिनिधि चरित्र के रूप में पेश किया गया है। तो क्या वाक़ई आज का नवयुवक राह चलती लड़की को छेड़ता और राखियाँ बाँटता चलता है? नहीं, क्योंकि यह दृश्य स्वयं यह स्पष्ट कर देता है कि यह किसी स्थिति की न तो प्रतिनिधि घटना है न चरित्र। केवल मनोविकारों का सामान्यीकरण कह सकते हैं। क्योंकि हर लड़की को प्रेयसी अथवा छेड़ने योग्य वस्तु समझने वाला न राखी का महत्व समझ सकता है न उसकी मर्यादा निभा सकता है। इस स्थिति में वह पूर्वाभास है जिससे आगे आने वाली फ़िल्मी कथा का अंदाज़ा लगाया जा सकता है— क्योंकि यह दृश्य इस फ़िल्म का सामान्य दृश्य है। पर यदि दो मिनट के लिए कड़वा घूंट पीते हुए मान भी लें कि समाज का पतन यहीं तक हुआ है, और आज का युवा ऐसी ही हरक़त करता है, तो क्या उस घटना अथवा हरकत को आँख मूँद कर यूँ चित्रित कर देना तथा पर्दे पर रंगीन ढंग से बिखेर देना भी जायज़ है? क्या यह सवाल नहीं पूछना चाहिए कि आख़िर आप पुरुष हैं या सैक्स की मशीन। यदि लड़की आपके साथ चलने को तैयार हो, तो आपको कोई फ़र्क़ ही नहीं पड़ता। अभी आप एक लड़की को छेड़कर वासना भरी आँख से देख सकते हैं, और दूसरे पल उससे राखी बँधवा सकते हैं, तो फिर तीसरे पल राखी फेंक कर हम बिस्तर भी हो सकते हैं। क्योंकि आपकी कोई व्यक्तिगत पहचान नहीं है। हर लड़की के लिए आप पुरुष हैं, और रिश्तों की नैतिकता आपके जूते की नोक पर है। इसलिए शादी की बात ही बेवकूफ़ी है और अगर राखी का वैसा इस्तेमाल संभव है तो मंगलसूत्र के साथ ऐसा ही खिलवाड़ करने में कितना समय लेंगे? समय के सारथी सिनेमा को यह छूट नहीं मिलनी चाहिए कि वह समाज के रथ को अपनी जागीर समझने लगे और जब जिधर चाहे अपने फ़ायदे के लिए ले जाये और वह भी रथ-सवार की इच्छा के बहाने। क्योंकि योद्धा तो, रण-क्षेत्र में विरोधी के तीर देखता है और सारथी को देखना है बचाव के रास्ते। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि [illegible] संवाद सामान्य जीवन में सुनने को मिलते हैं। और आत्मा को लील कर जीने वाले लोग भी हैं ही। मगर यह विषय तो उसी व्यक्ति पर दफ़न होने लायक है, तथा सिनेमा में उसका वर्जित होना आवश्यक है। और यदि यह स्थिति

वास्तविक जीवन को वाक़ई ख़तरनाक ढंग से प्रभावित करती नज़र आती है तो फिर सिनेमा में उसका प्रभावशाली और विश्वसनीय तरीक़े से प्रतिकार होना चाहिए। पर दिल में इस प्रवृत्ति को उकसाया जाता है तथा उसको मज़ेदार बना कर आप तक पहुँचाया जाता है।

लड़की को छेड़ने का चलन लड़के ने चरित्र की तरह स्वीकार कर रखा है। शुरु में की गयी छेड़ राखी के अंजाम तक पहुँची, पर उसे फिर हीरोइन पर आजमायां। हीरोइन-लड़की माधुरी दीक्षित है। उनकी प्रस्तुति सिनेमा तकनीक की उत्कृष्टता का घटिया इस्तेमाल है जो अच्छे भाव में घटिया सामान बेचने का व्यापारिक छल दिखता है। कीचड़ भरे गढ्ढे के पास से जमीन पर चल रहा पैदल लड़का है और ठीक सेट कोण से जीप में सवार लड़की है। रफ़्तार और कीचड़ का मेल नायक के कपड़ों पर उतरता है। आदत में घुली अभद्रता स्वर-शब्द सहित बाहर आती है। वह लड़की को ललकारता है। जिप्सी जीप में सवार लड़की *रिवर्स* में आती है और कीचड़ एक बार फिर *फ़ारवर्ड* रफ़्तार से लड़के को सराबोर करता है। इस कीचड़ खोरी में मुलाक़ात की इब्तदा होती है। एक फ़िल्म थी **नया ज़माना**। उसमें भी मुलाक़ात के बिन्दु कार-कीचड़ और सड़क से उठाये गये थे। जिनके तहत हेमामालिनी और धर्मेन्द्र का आमना-सामना हुआ था। लेकिन उस मुलाक़ात में पैदल चलने वाला और कार पर सवार पात्र अपने-अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करते दिखते हैं। जबकि **दिल** में यह घटना *हीरोइन* की फ़िल्म में *पावरफुल* इंट्री के रूप में रखी गयी है। *एक्शन, कैमरा, सम्पादन* तीनों का अद्भुत इस्तेमाल नायिका के पर्दे पर आने को चकाचौंध में बदल देता है। चमत्कृत करना जुर्म नहीं है, पर चमत्कार से विवेक शून्यता पैदा करना अपराध है। यहाँ माधुरी दीक्षित साक्षात् बिजली की तरह चमकती और गिरती है। ऐसे में प्रेम की उपज निर्देशकीय चमत्कार ही कर सकता है अन्यथा स्तब्धता डर और सम्मोहन का मिला जुला भाव हो सकती है, प्रेम नहीं। कीचड़, कार और मुलाक़ात कुछ भी मतलब का नहीं है, पर है भव्य और विस्मयकारी।

लड़के के ऊपर कीचड़ पड़ी। वह अपमानित हो गया। अजीब भी लगता है, यह दुहरा माप दंड। लड़का चाहे जिस पर कीचड़ उछालता रहे, दूसरों का अपमान नहीं होता, पर उस पर उछल गयी तो उसका घोर अपमान ज़रूर हो गया। अपमानित लड़का चैन से बैठ जाये तो **दिल** जैसी फ़िल्म का अपमान होता। इसलिए इस फ़िल्म में यह घटना अगली मुलाक़ात का मंच तैयार करती है। और एक ज़ोरदार दृश्य सामने आता है। आमीर खान अंधे का नाटक करता है। लड़की अंधे पर द्रवित होती है। अपनी गाड़ी में *लिफ़्ट* देती है। लड़का मौक़े का फ़ायदा उठाता है। चिपकता-गिरता है। और अन्ततः क्लास रूम तक जाकर अपनी असलियत उजागर कर देता है। इस पूरी दृश्य रचना में केवल नैतिक मूल्यों से परहेज़ ही नहीं नज़र आता बल्कि अश्लीलता मानसिकता भी सामने आती है। अंधे का नाटक दर्शक समझता है पर नायिका नहीं समझ पाती। फिर उस दया-करुणा से खिलवाड़ एक तरह से *दया-करुणा* को ही, छले जाने के *कारण* के रूप प्रस्तुत कर देती है।

कुछ अति वैज्ञानिक मानसिकता वाले आधुनिक चिंतक भरोसा, दया, ममता को आदमी के गुण के बजाय कमजोरी के रूप में स्पष्ट करके, सयाने बन जाते हैं। पर उनसे पूछो कि आप के बाप का नाम क्या है, तो झट से अपने *फादर्स नेम* बता देंगे। *फादर्स नेम* बताने में केवल भरोसा, दया, ममता ही नहीं पूरी आदमी की पहचान तय होती है, अन्यथा बाप होने का परम सत्य बेटे तक पहुँच ही नहीं सकता। और कोई अतिशय आधुनिक भी बाप के अस्तित्व को नकार नहीं सकता। *बाप* ठोस सत्य होकर भी कितने महीन *विश्वास* पर टिका है। **दिल** इस कथा के सहारे एक सच्चाई से तो अलग करती ही है, पर एक झूठ को साबुत सच की तरह सिर पर पटक भी देती है। लिफ़्ट लेने का असली आनन्द लड़का, लड़की के शरीर की निकटता में पाता है। लड़की इस हरकत से, खुद को नावाकिफ़ की तरह प्रस्तुत करती है। यह दुहरा छल है। एक— या तो वह उस आनन्द में भागीदार होकर सुख भी लेती है और मासूम भी बनी रहती है। दूसरा— उसे इस तरह के स्पर्श का इतना अभ्यास है कि ये छूत-छात उसके लिए संवेदना के बिन्दु नहीं हो सकते। ये दुहरे छल, दुहरा घटियापन भी प्रदर्शित करते हैं। ढ़ेर सारे लड़कों और कक्षा-कक्ष के बीच किसी लड़की का ऐसा तमाशा मानसिक उत्पीड़न ही नहीं सामाजिक अपराध भी है। प्रेम के लिए आपसी छेड़ की ऐसी स्वच्छंदता निर्माता-निर्देशक स्वयं तो लेते ही हैं नायक-नायिका को भी देते हैं। लड़की अपने अपमान के बदले में जो रुख़ स्वीकार करती है वह तो और भी तकलीफ़ देह है। ठीक लड़कों की तरह। लड़की अगर लड़कों सा व्यवहार करे तथा लड़के, लड़कियों जैसे हो जाएँ तो इसमें शानदार जैसा क्या हो जायेगा? बल्कि यह तो दोनों के लिए चुल्लू भर पानी में डूब मरने लायक बात हुई। पर यहाँ ऐसा कुछ नहीं है। हाँ इसके बाद एक बेहद फूहड़ गीत और फूटता है जिसमें लड़की की नैसर्गिकता को 440 वोल्ट और बिजली के खंभे से जोड़ दिया गया है। इस सौंदर्यबोध की चर्चा करना भी सौंदर्य का अपमान है।

इस फ़िल्म में नायक-नायिका की इन हरकतों को जायज़ और यक़ीन करने योग्य बताने के लिए उनकी बाप वाली पीढ़ी को भी इसी रंग में रँगा गया तथा चाल-ढाल को इसी ढब से ढाला गया है। इस किरदार में अनुपम खेर तथा सईद जाफरी हैं। ये अच्छे अभिनेताओं का दुरुपयोग है। चूँकि ये अच्छे कलाकार हैं अतः बुराई भी अच्छी तरह से करते हैं— अच्छे लगते हैं। पर जैसा कि इन फ़िल्मों की वास्तविकता है अच्छा लगना अच्छे होने की गारंटी नहीं है। सो ये पात्र यहीं पर गड़बड़ी करते हैं। विशेषणों की इतनी घटिया संज्ञा बनाते हैं कि दंग रह जाना पड़ता है। एक विशेषण है *मक्खीचूस*। अनुपम खेर *मक्खीचूस* हैं। किस तरह? बेहद घिनौनी तरह से। उनकी चाय के प्याले में मक्खी गिर पड़ती है। वे प्याले की चाय फेंकते नहीं, पीते हैं। इतना ही नहीं— प्याले में गिरी मक्खी को चूसते हैं ताकि उससे लगी चाय बेकार न जाये। यह क्या है? मुझे *वीभत्स* लगता है। सिनेकार उसे *हास्य* बता कर प्रस्तुत करता है— दर्शक हास्य ही स्वीकार करता है। यानी *रसान्तर* भेद ही

समाप्त कर दिया। अब *शृंगार* हो या क्रोध (रौद्र) क्या फ़र्क़ पड़ता है। यह स्थिति दिल की बेईमानी भी है और अत्याचार भी।

दिल फ़िल्म में भी एक पार्टी का दृश्य है। जिसमें बेटा अपनी इक्कीसवीं साल गिरह वयस्क तरीक़े से मनाता है। जिसमें उसका बाप भी वयस्क तरीक़े से शामिल होता है। जिसमें अपनी बेटी की उम्र वाली वयस्क लड़की के 'ब्रा' में अपना चश्मा फंसा कर अंधत्व प्रदर्शित करता है, वय की वह स्थिति कौन सी होगी जहाँ, आप गिरने-उठने में भेद करना सीखेंगे। यह पूरा दृश्य विशेष रूप से रचा गया है जिसमें भरपूर मज़ा आये। लड़के-लड़कियाँ आपस में मजा लें। दर्शक उनके मज़े में मज़ा लें। अनुपम खेर अपना चश्मा खोकर मज़ा लें। लड़की उसे अपने ब्रा में लटका कर मजा ले। कुल मिलाकर एक ऐसा खेल रचा गया है जहाँ नैतिक संकोच के लिए जगह हीन हो। बेझिझक, अमर्यादित, निरंकुश व्यवहार की खुली छूट कुछ इस तरह प्रस्तुत की गयी है जैसे नियम-संयम, मर्यादा अनुशासन बेड़ियाँ हों, और उन पर अमल करना दासता। बस! यही वह बर्फ़ की ढ़लान है जहाँ से लुढ़क पड़ना तो बहुत सरल है पर फिर वहीं लौट पाना बेहद कठिन। वयस्क फ़िल्मों के बारे में किया गया चुटकुला कितना सही लगता है— "वयस्क फ़िल्में बच्चों के लिए वर्जित होती हैं क्योंकि इनमें बड़े लोग बचकानी हरकत करते दिखाये जाते हैं।" इस दृश्य में लड़के-लड़कियों के बीच अंतर स्पष्ट कर पाना तो ख़ैर बेहद कठिन काम है, इसमें तो बाप-बेटे के बीच फ़र्क़ करना भी संभव नहीं लगता। अनुपम खेर और आमीर खान तो यूँ बर्ताव करते दिखते हैं जैसे आमीर खान ने (पुत्र) होकर अनुपम खेर के ऊपर उपकार कर दिया हो। उपकृत पिता और उपकार करने वाले बेटे के बीच किस प्रकार का प्रेम पैदा हो सकता है? यह केवल विकार हो सकता है, प्यार नहीं। बाप के उम्र के व्यक्ति से आमीर खान की सहेलीनुमाँ लड़कियाँ जिस प्रकार व्यवहार करती हैं वह आने जाने वाले किस समय की *संभव* घटना लगती है। पर फ़िलहाल वह घोर अश्लीलता ही नज़र आती है। हास्यप्रद वस्तुओं का अकाल सृज़न का विनाश है और प्रेम स्वयं सृजन। दोनों का एक साथ, एक जगह होना अनर्थक संयोग है।

पार्टी का खर्च इक्कीस हज़ार रुपये (हज़ार रुपये प्रतिवर्ष के हिसाब का गणित) बेटे का बाप, बेटे की मोटर साइकिल बेंच कर, अदा करता है। इसमें हास्य का पुट इस तरह घोला गया है, जैसे बेटे को एक बाप, उसे सीख दे, "कि सावधान पुत्र! अब तुम वयस्क हो गये हो।" पर उसके भीतर एक बारीक़ कैंची है जो बाप-बेटे के बीच के शाश्वत रिश्ते को कतर देती है। यह एक पाशविक प्रवृत्ति है— जहाँ ठीक वयस्क होते ही जानवर अपने बच्चों को खुद से अलग कर देता है। जिस तरह का लोभी, कंजूस तथा क्रूर पात्र अनुपम खेर के रूप में प्रस्तुत किया गया है, उससे उस तरह के *हास्य* की संभावना ही नहीं अपेक्षित होती जैसा वह दिल में प्रस्तुत करता है। जरा गौर से दखें तो *क्या* वह *मोटर-साइकिल* केवल बेटे की चीज़ है? क्या उसे खरीदने में बाप की कमाई नहीं खर्च हुई है? क्या उसे

बेच कर उसने अपना ही सामान नहीं बेचा है? घर की चीज़ों में उपयोग के आधार पर किया बँटवारा भावनात्मक (प्रेम) का बँटवारा नहीं होता वह केवल सुविधा और सुगमता के लिए किया गया उपक्रम होता है पर **दिल** में सतही हास्य के सहारे भी प्रेम पर ही हमला बोला गया है।

कहते हैं "हर लड़की के भीतर एक स्विच होता है जिसके दबाने से वह प्रेम करने लगती है" प्रेम की प्रक्रिया उस स्विच को ढूँढना है। उसके *आपरेट* होते ही प्रेम शुरू हो जाता है। प्रेम की मशीनी व्याख्या का यह भी एक अंदाज़ है मगर **दिल** इससे भी दस क़दम आगे है। यहाँ तो पूरी लड़की *मुसल्लम स्विच* है— अब आप क्या दबायेंगे? **दिल** पूरी तरह संवेदनाओं का संहार है।

कबाड़ी का धंधा करता अनुपम खेर गंगू तेली और राजा भोज का ताना-बाना बुनता है। अपने बेटे आमीर खान की शादी, रईस, सईद जाफरी की बेटी माधुरी दीक्षित से कराने की जोड़-तोड़ करता है। इस चक्कर में कुछ पी.ए., कुछ बॉडी गार्ड, और दो चार कुत्ते किराये पर लेता है। कुत्तों का मालिक उनका किराया पाँच सौ रुपये माँगता है। जिसके जवाब में अनुपम खेर बोलता है "पाँच सौ?... अरे पाँच सौ रुपये में तो पचास आदमी कुत्ते बनने को तैयार हो जाएँ..." जवाब में सेर और सवा सेर का अनुपात कुछ बढ़ा कर पाँच सौ माँगने वाला कहता है, "भाव आदमियों के गिरे हैं कुत्तों के नहीं..." कुल मिलाकर यह भी हास्य और यथार्थ की आपसी खिचड़ी— आदमी और आदमीयत का रिश्ता व्यक्त करने की बजाय उसका मजाक ही उड़ाती है जबकि आदमीयत का मज़ाक उड़ा कर प्रेम किया ही नहीं जा सकता।

आपस में तनाव भरे संबंधों को प्रेम की तरह व्यक्त करने के बाद सिनेकार ने दोनों (लड़का-लड़की) को अचानक उनके पिताओं के सामने प्रस्तुत कर दिया। दोनों बाप गंभीरता से बच्चों की शादी के विषय पर बात कर रहे थे और बच्चे आपस में बच्चों की तरह लड़ाई-लड़ाई खेलने लगे। वयस्क संवादों वाले युगल, बच्चों की तरह पेश किये गये— यह बचकानी हरकत नहीं बल्कि सयानी चाल है। इसके माध्यम से अश्लीलता को बच्चे के नंगेपन की मासूमियत बख़्श दी जायेगी और दर्शकों की कुंठा का दोहन भी कर लिया जायेगा। इससे अच्छे तो दादा कोंडके हैं जो कद्दू को कद्दू ही कह कर बेचते हैं, करेला कह कर नहीं। यहाँ सिरिंज में शराब भरी गयी है। हैरत होती है कि जिन बच्चों की शादी के लिए बड़े गंभीर हैं वे अभी कितने छोटे हैं और किसी बात के लिए गंभीर नहीं हैं।

दिल फ़िल्म में अश्लीलता और क्रूरता को खेल की तरह इस्तेमाल किया गया है। एक दूसरे को नीचा दिखाने की होड़ में हीरो हीरोइन खुद कितने नीचे गिर जाते हैं यह देखकर शर्मिन्दा होने की बजाय यदि आप तालियाँ पीटने लग जाएँ तो हिटलर के सिपाहियों और आप में कोई मौलिक अन्तर नहीं बचेगा। लड़की चाहती है कि लड़का अपमानित हो और अगर अपमानित न हो तो पिटे। इसके लिए वह एक चाल चलती है। अपने कॉलेज़ के शक्तिशाली जूडो-कराटे चैम्पियन शक्ति और आमीर

खान के बीच मुक़ाबले का एलान करा देती है। ऐसे में हीरो भागे तो अपमानित हो, लड़े तो पिटे। लड़का मुक़ाबले को तैयार हो जाता है और फ़िल्मी ढंग से जीत भी जाता है। इतनी सी बात में आप सोच सकते हैं कि कितनी अश्लीलता और क्रूरता भरी जा सकती है? हो सकता है आपने कुछ सोच भी लिया हो पर **दिल** देखने पर सारी सोच छोटी हो जाती है। यहीं, ऐसे मामलों में अपने फ़िल्मकारों की प्रतिभा के दुरुपयोग पर रोना आता है। अखाड़े में लड़के के दाख़िल होते ही लड़की चुप-चाप तमाशा देखने की बजाय, मर्दाने ढंग से, लड़के को ललकारती है, "हीरो को आख़िरी मौक़ा दिया जाता है चाहे तो अभी भी मैदान से भाग सकता है मगर शर्त यह है कि उस हालत में हीरो को चैम्पियन के पैर छूकर माफ़ी मांगनी होगी..."। यह शर्त के सिलसिले की शुरुआत थी। यहाँ पर दर्शक की कोई शर्त नहीं होती, उसे तो सिनेकार की शर्तों पर ही फ़िल्म देखना है। नायक शर्त स्वीकार करते हुए प्रतिशर्त रखता है, "अगर मैं जीतता हूँ तो नायिका को सरे आम सबके बीच मुझे (नायक को) चुम्बन देना होगा"। ऐसे में नायक नायिका को चूम ही लेता तो उतना अश्लील नहीं होता जितना उसका इस प्रकार सार्वजनिक आह्वान। शर्तों पर आधारित चुम्बन, प्रतिशोध और उत्पीड़न तो हो सकता है, प्यार नहीं। यहाँ प्रेम प्रतीक नीलाम होते नज़र आते हैं। ज़रा सोचिए आज सार्वजनिक *चुम्बन* की शर्त एक उत्तेजना पैदा करती है। यदि इसका यूँ ही उपयोग होता रहा तो यह सामान्य हो जायेगा। इसकी उत्तेजना मर जायेगी। तब क्या बेचोगे। यह *ड्रग* और *एडिक्ट* का संबंध *सिनेमा* और *दर्शक* के बीच क़ायम करने की साज़िश है। जब चुम्बन का आकर्षण ख़त्म हो चुका होगा तब संभवतः और भयावह और उत्तेजक शर्तें लगेंगी। शायद सहवास की शर्त लगे। उसके बाद गोली मारने की। इस पतन यात्रा का क्या अन्त होगा? ये प्रयोग ख़राब ही नहीं दूरगामी ख़तरे के संकेत भी हैं। प्रेम प्रतीकों और अवलम्बों का इतना घातक उपयोग पहली बार हुआ है।

प्रतिशर्त पर लड़की और बेशर्म हुई और इसी बेशर्म हौसले के साथ सामने आयी, "यदि आप हारते हैं तो मेरी सहेली का चुम्बन लेना पड़ेगा"। यह शर्त रखते हुए लड़की ख़ासी बदतमीज़ भी दिखाई गयी। बेशर्मी और बदतमीज़ी एक साथ आ जाये तो क्रूर होते समय नहीं लगता। लड़की (माधुरी दीक्षित) ने अपनी सहेली के रूप में जिस लड़की को पेश किया वह देखने में कुरुप और मोटी तथा काली लड़की थी। लड़की को पर्दे पर प्रस्तुत करते ही पार्श्व में **हाथी मेरे साथी** का थीम संगीत बजाया गया। यह इस दृश्य को क्रूर और अश्लील बना रहा था और दर्शक फिर हास्य रस में डूब रहे थे। यह कितना बड़ा रस विचलन है कि जहाँ आप को रोना चाहिए आप हँसते नज़र आते हैं। सिनेमा का इससे बड़ा छल क्या होगा? असुन्दर लड़की की कुरुपता का इतना क्रूर दुरुपयोग हम भारतीय करेंगे, जो पाश्चात्य जगत् के लिए पूरी तौर पर काले और कुरुप ही हैं, तो किस बूते पर श्वेत-अश्वेत के झगड़ों तथा रंगभेद की नीतियों का विरोध करेंगे? किस मुँह से गाँधी, मार्टिन लूथर किंग और नेल्सन मंडेला को याद करेंगे? इस मामले में रंग-रूप

का इस्तेमाल न हँसने के लिए जायज़ है न हँसाने के लिए। कुख्यात नाज़ी सैनिकों का एक क़िस्सा है। उसके सिपाहियों ने अपने आमोद-प्रमोद और मनोरंजन के लिए परंपरागत तरीक़ों से ऊब कर नया तरीक़ा निकाला था। एक बड़े तवे को आग पर रख कर लाल गरम करते थे और फिर एक युद्ध बंदी को लाकर, तेज़ तलवार से उसकी गर्दन उड़ा कर; लाल गर्म तवे पर फेंक देते थे। खोपड़ी नाचने लगती थी। सिपाही भी नाचने गाने और शराब पीने लगते थे। असुंदर लड़की का यह सार्वजनिक अपमान, संवेदनाओं के स्तर पर नाज़ी सैनिकों का ही कृत्य नज़र आता है। यह अपमान, एक लड़की द्वारा; दूसरी लड़की का अपमान है। इसलिए और भी आपत्तिजनक है। आप स्वतंत्र हैं उसी सीमा तक जहाँ आप अपने चुम्बन को सार्वजनिक रूप से नीलाम करें। मैं नहीं समझता कि कोई लड़की अपनी सहेली को अपने चुम्बन के लिए अधिकृत करेगी। किस अधिकार से माधुरी दीक्षित ने अपनी सहेली के चुम्बन का *आफर* नायक को शर्त बदने के लिए दे दिया। यह सामाजिक मर्यादा तथा व्यक्तिगत-स्वतंत्रता का भी अतिक्रमण है। यहाँ आकर सारी क्रिया बेतहाशा नशा देने की कोशिश नज़र आती है जिसमें आदमी को संवेदनशीलता के परंपरागत बिन्दु खारिज़ कर दिये जाते हैं और लगभग यह भुला दिया जाता है कि आदमी किस पर हँसता है और किससे हँसता है। माधुरी दीक्षित की यह मर्दानगी उतनी ही घटिया, हीन तथा अश्लील लगती है जितनी किसी लड़के का लड़कीपन दिखाना। लड़की का साहस लिंग परिवर्तन नहीं है।

हीरो जीत गया। अब शर्तों को पूरा करने का समय आया। निर्देशक ने इस अंतिम क्षण को ख़ासा लम्बा खींचा क्योंकि इसी समय में उसे लड़के-लड़की के बीच सुकोमल आकर्षण के नैसर्गिक तत्व का शोषण करना था। उसने किया। देर तक *क्लोज-अप* में दोनों के होंठ दिखाये और दर्शकों की कुंठा को उभारा और उसे और कुंठित किया। दर्शक यूँ उत्तेजित हुए गोया सिनेमा स्वयं कैबरे डांसर में तब्दील हो गया हो और दर्शक पिंजरे में बन्द चिम्पाजी बन गये हों। तभी अचानक हीरो बोलता है, "मुझे बचपन में सिखाया गया था कि किसी गंदी चीज को मुँह मत लगाना।" और लड़की को झिटक देता है। बचपन की नसीहतों का जवानी में यह दुरुपयोग **दिल** की मौलिकता है। इस फ़िल्म में लगातार यह सचेतनता बनी रहती है— कि 'यहाँ तक का पतन तो दिखाया जा चुका है... अब इसके नीचे और पतित होना है। पतन की पराकाष्ठा की सतत कोशिश है **दिल**। अतः रचना ने और भी ख़तरनाक पायदान पर पांव रखे।

लड़के लड़कियों का झुंड पिकनिक-सैर सपाटे पर गया। वहाँ रुकना था। लड़के ने लड़की को घटिया मज़ाक में उतारा। संडास के ऊपर स्त्री-पुरुष की तख़्तियाँ बदल दी। लड़की पुरुष के संडास में घुस गई। भीतर [illegible] दाखिल हुई। चीख़ी और डरते-शर्माते मुँह छुपाते भाग गयी। लड़का अपनी हरकत पर गौरवान्वित हुआ और उसके साथियों ने उसे हीरो साबित करते हुए कहा, "अब के बाद हीरोइन जब भी *बाथ* रूम जायेगी तुझे ज़रूर याद करेगी"। प्रश्न उठता है कि यदि वही लड़की आपकी पत्नी

बन जाये (जैसा कि फ़िल्म के अंत में होता भी है) तो क्या आप अपने को याद करवाने के लिए इसी प्रकार के तरीक़े उपयुक्त मानेंगे? अपने आप के प्रति आप की संवेदनाएँ इसी रसातल को जायेंगी! प्रेम किधर से आयेगा?

आगे इस फ़िल्म का क्लाइमेक्स है। इस फ़िल्म का मतलब इस गिरावट का अन्त जो इस फ़िल्म का ट्रेंड है। लड़की अपने अपमान के बदले में अपना पुनः अपमान करवाती है। शरीर और मन को अलग-अलग करके देखने का जो भौतिक नज़रिया है उसी के *फ्रेम* में। *सिक्स* तथा *नाइन* को उलट कर कई फ़िल्मों में हास्य, आतंक, उत्सुकता इत्यादि दिखाया गया है। इस फ़िल्म में नायिका इसे नये रंग में इस्तेमाल करती है। नायक नौ-छः के चक्कर में फँस कर नायिका के कमरे में घुस जाता है। नायिका चीख़ती है। शोर मचाती है। और अपने कपड़ों को फाड़कर अस्त-व्यस्त करती है। बेहया बाहर आती है। स्वयं को दृश्य की माँग (?) पर प्रस्तुत करती है और नायक पर बलात्कार का इल्ज़ाम लगाती है। यह भी खेल-खिलवाड़ के नाम पर ही सामने आता है। खिलवाड़ का इससे घटिया नमूना तो दिखा नहीं—हो सकता है आगे आने वाली **दिल** से बेहतर (?) फ़िल्म और कुछ दिखा दे। अपमान करने के लिए अपमानित होने का इससे अधिक उग्र रूप क्या हो सकता है? इस ऊँच नीच में सच का बलात्कार, सच की नग्नता तो संभव है पर इसमें प्रेम की गुंजाइश तो किसी ओर से नहीं दिखती। दरअसल इसे लड़की की नादानी कह कर निर्देशक बच निकलता है मगर इसी साफ़ बच निकलने में उसकी मक्कारी छुपी है। लड़के को डाँट-फटकार कर बाहर निकाला जाता है उस समय लड़की जीभ को गोल करके जिस तरह की अश्लील मुद्रा अख़्तियार करती है वह नायिका के हाव-भाव न होकर वेश्या के ग्राहक पटाने का अन्दाज़ नज़र आता है। यहाँ पर यह कहना कि यह पूरी फ़िल्म ही फ़िल्म निर्माण को वेश्यावृत्ति के रूप में प्रस्तुत कर देती है, अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस दृश्य ने स्त्री को, स्वयं से स्वयं की अस्मिता का नाश करते दिखाया है। लड़का अपने आप को बलात्कारी पाकर उतना शर्मिंदा नहीं होता जितना डाँट फटकार कर भगाये जाने पर। अतः अब उसकी बारी है। वह अचानक फ़ौलादी ताक़त का धनी हो जाता है और लड़की को एक घुड़साल में ले जाता है और बिना बलात्कार किए लड़की को समझाता है कि बलात्कार क्या होता है। लड़की समझ जाती है। इस दृश्य संयोजन में बलात्कार एक बेहद उत्तेजना और ग्लैमर के साथ डर में तब्दील हो जाता है। कमाल यह कि लड़का-लड़की से कहता है, "कि अब समझ में आया बलात्कार क्या होता है?... बलात्कार मैंने नहीं... तुमने किया है... मेरी भावनाओं के साथ" पिछली पूरी फ़िल्म में, किसी भी जगह यह साबित नहीं होता कि श्रीमान नायक ने यही काम नायिका की भावनाओं के साथ नहीं किया हो। पर संवाद नायक के हाथ में नहीं सिनेकार की क़लम में थे जो स्वयं षड्यंत्र का हिस्सा है। अतः यह पूरा दृश्य आतंक की रचना है। यहाँ कोई नास्तिक अचानक मूर्ति को साष्टांग दण्डवत भी करने लगे तो किसकी हिम्मत है जो एतराज़ करे। इस दृश्य-भूमि को प्यार के अंकुरण

के रूप में प्रस्तुत किया है। प्रेम को बलात्कार से पैदा करवा कर निर्देशक ने यह साबित कर दिया है कि अब जायज़-नाजायज़ संतान की तरह *प्रेम* भी जायज़-नाजायज़ संभव है। *प्रेम* की इससे अधिक दुर्गति **दिल** फ़िल्म में संभव नहीं थी लेकिन *प्रेम* का जो स्वरूप इस फ़िल्म ने विकसित किया है वह घोर आपत्ति को निमंत्रित करता है।

इसके बाद *प्रेम* को पुराने अर्थ में घसीट कर उसे और भी फूहड़ कर्म में तब्दील कर दिया गया है। फिर शादी के लिए बाक़ायदा बग़ावत तथा उसके बाद प्रहार-प्रतिकार, दर्प-दंभ, और अश्लील संवादों का पूरा बाज़ार सामने आता है। अंततः पूरी फ़िल्म प्रेम के नाम पर नशा और दुराग्रह के रास्ते होते-होते प्रेम की हत्या में समाप्त हो जाती है। जो संवेदना के स्तर पर प्रेम को ख़ारिज करती है तथा समाज और नैतिकता के सामने भी प्रश्न चिन्ह लगा देती है।

एक दृश्य में हीरो, हीरोइन के बाप के घर में घुस कर काग़ज़ जलाता है और उसके फेरे लेकर शादी करता है। इस तरह जैसे लड़की आग के चक्कर काट कर सिक्के में तब्दील हो गयी हो और नायक ने आग जलाकर तथा उसके फेरे लेकर उसे कमा लिया हो, और उसे जेब में रख लिया हो। खून से तिलक लगाना तथा माँग भरना ज़रा पुराना *आइडिया* लगा होगा इसलिए उसे नये ढंग से आग का अर्थ समझाया गया। पूरी फ़िल्म में जहाँ परंपरा का गला काटा गया हो वहाँ शादी के लिए *आग* के फेरे लगाना केवल परंपरा का नये ढंग से गला काटना ही नज़र आता है। जब पूरा खेल मौज़-मज़े से ही ताल्लुक रखता है तो फिर इस खिलवाड़ का क्या फ़ायदा। वास्तव में, दर्शक में; शादी को भी उत्तेजना के रूप में ही रखने की यह भौंडी कोशिश थी, जो पनप रहे ज़रा से आकर्षण को भी समूल नष्ट कर देती है।

फ़िल्म के उत्तरार्द्ध में अनुपम खेर तथा सईद जाफरी अपने बेटे-बेटियों के साथ खलनायक का व्यवहार करते हैं तथा आपसी प्रेम को, समाज की सारी अस्वीकृतियों, वर्जनाओं के सहारे नष्ट करते हैं। मंगल सूत्र को भी भावनात्मक शोषण और छल के प्रतीक के रूप में इस्तेमाल करके पति-पत्नी के प्रेम को भी नष्ट करने की भी क़ामयाब कोशिश की गयी है। ग़र्ज़ यह कि प्रेम की सारी संभावनाओं तथा उसके सभी स्वरूपों को **दिल** में मार डाला गया है— बेहद खूबसूरती के साथ। बिना कोई सबूत छोड़े।

हिन्दुस्तानी सिनेमा नयी चुनौतियाँ

इकबाल मसूद

1



जब हम 90-आदि, के भारतीय सिनेमा की ओर देखते हैं तथा *चुनौतियों* की बात करते हैं, हमें अपनी अवधारणाओं पर पुनर्विचार करना होगा। शब्द *चुनौती* का उपयोग निश्चय ही वर्तमान कमियों, सुधारात्मक उपायों, बाहरी दबावों एवं उन पर विजय पाने के साधनों को सम्मिलित करते हुए किया जाना चाहिए। ज़रुरत 90-आदि के विश्व की ओर एक नयी तरह से दृष्टिपात तथा नयी दृष्टि की अभिव्यंजना के मौलिक तरीक़ों को ढूँढने की है।

सिनेमा का पर्यावरणः दर्शक-समुदाय, प्रतिद्वंद्वी, असंगठित वित्तीय संरचना

सिनेमा की भाषा, शैली तथा अन्तर्वस्तु के सम्बन्ध में कोई बातचीत शून्य में कोई अर्थ नहीं रख सकती। ये सभी शब्द केवल एक विशिष्ट भौतिक तथा सांस्कृतिक पर्यावरण के परिप्रेक्ष्य में ही अर्थ रखते हैं। अतः हम ऐसे पर्यावरण के कुछ पक्षों को लें।

दर्शक में परिवर्तन

मूल चुनौतियों में से एक है दर्शक की प्रकृति में परिवर्तन। मैं हिन्दी सिनेमा 1936 से देखता रहा हूँ। तीस-आदि में दीर्घाएँ **विद्यापति, देवदास, दुनिया ना माने** एवं **आदमी** जैसी फ़िल्मों के लिए भरी होती थीं। चालीस आदि में **रोटी, औरत** एवं **बरसात** तदुपरान्त पचास की **प्यासा, श्री 420** एवं **दो बीघा ज़मीन** ने भी यही भूमिका निभायी। किन्तु साठ और सत्तर के मध्य किसी समय दर्शक ने बदलना आरंभ किया, विशेषकर महानगरों में जहाँ कि हिन्दी फ़िल्मों की नियति निर्धारित होती है। दर्शक काहिल, जाहिल तथा संवेदनहीन हो गया। यह एक उपमहाद्वीपीय स्थिति है। एस.एम. यूसुफ के साहबजादे इकबाल यूसुफ पचास के आसपास के बम्बई-वासी प्रसिद्ध निर्माता, अब एक पाकिस्तानी फ़िल्म-वितरक हैं। "आधिकारिक रूप से पाकिस्तान में साक्षरता-दर 18 प्रतिशत है" उन्होंने बताया, "किन्तु वास्तवमें यह प्रतिशत 10 है। इसलिए हम 14 वर्ष की आयु वालों के लिए फ़िल्में बनाते हैं।"

साक्षरता की दर भारत में 30 से 35 प्रतिशत के मध्य है। किन्तु दर्शक-समूह अपने पाकिस्तानी भाई-बन्दों की तुलना में बेहतर रूप से तैयार नहीं हैं। गत माहों की हिट फ़िल्में **दिल, घायल** रही हैं— ढर्रे के अनुरूप लड़के-लड़की का रोमाँस तथा बदले की गाथा। और, ये अपने ढेर में सबसे अच्छी हैं। *इंडियन एक्सप्रेस* के फ़िल्म-समीक्षक के रूप में, मैं औसतन तीन फ़िल्में प्रति सप्ताह देखता रहता हूँ। मैंने फ़िल्म तथा दर्शक दोनों की गुणवत्ता में पतन पाया है।

बाज़ार में कला अथवा समान्तर सिनेमा के लिए जगह नहीं है। मणि कौल से लेकर कुमार शाहनी, बुद्धदेव दासगुप्ता, मृणाल सेन, अडूर गोपालकृष्णन अमोल पालेकर, बासु चटर्जी तथा श्याम बेनेगल— जैसे फ़िल्मकार कलात्मक तथा वित्तीय दोनों कारणों से टी.वी. की ओर मुड़ गये हैं।

अतः 90-आदि के सिनेमा की प्रमुख चुनौती दर्शक की प्राप्ति है। और, यह चुनौती ऐसे समय आयी है जबकि टी.वी., वीडियो, केवल टी.वी., (और शीघ्र ही उपग्रह-कार्यक्रम) पहले ही ठोस दर्शकों को खींच ले गये हैं।

वित्त की प्राप्ति एक और चुनौती है। फ़िल्म-उद्योग जो कि व्यावसायिक एवं कला-सिनेमा दोनों की ही सेवा करता है, तंग हाल है। इसके कारण कई हैं और यहाँ उन पर पूरी चर्चा नहीं की जा सकती। प्रथमतः, यहाँ काले धन की विराट् उपस्थिति है जो कि फ़िल्मों के निर्माण तथा इसी कारण गुणवत्ता को विकृत करती है। दूसरे, यहाँ अधिकांश फ़िल्म-निर्माताओं की अत्यन्त अनिश्चित वित्तीय स्थिति है। तीसरे यहाँ है सितारों के आसमान छूते पारिश्रमिकों की धूर्त-पद्धति।

ये तथा सिनेमा-उद्योग की और तमाम समस्याएं हैं जिन्हें सुलझाया जाना है, इसके पूर्व कि हम नब्बे आदि के सिनेमा की चुनौती के बारे में बात कर सकें। नब्बे आदि में हम कला को व्यावसायिक सिनेमा के बरक्स रखते हुए *अच्छे सिनेमा* के विकास की बात और अधिक नहीं कर सकते। **सिनेमा** एक सिलसिला है। व्यावसायिक सिनेमा समान्तर तथा कला-सिनेमा के नवाचारों के बिना जीवित नहीं रह सकता। कला/समान्तर सिनेमा शेष नहीं रह सकता वित्तीय अभिप्राय से अलग एक सार्थक कलात्मक अभिप्राय में-बिना ठोस दर्शक-समुदाय के।

हमें चाहिए एक नयी फ़िल्म-नीति

नयी फ़िल्म-नीति में अग्रलिखित तत्वों का समावेश होना चाहिए:

1. सिनेमा को संस्थागत वित्त के पात्र उद्योग के रूप में मान्यता।
2. विनियमों का क्रमशः सख़्ती से प्रयोग विशिष्टतः वित्तीय सौदों के सम्बन्ध में—निजी स्रोतों से ऋण, सितारों को भुगतान, अनुबंधों का पालन आदि।
3. एक प्रकार की निर्माण-पूर्व संहिता, फ़िल्म-छवियों में हेराफेरी तथा भ्रष्टाचार को रोकने हेतु दिशा-निर्देश निर्धारित करते हुए।
4. वरीयतः ये मामले स्वयं-विनियमित होने चाहिये। इसमें चूक होने पर शासन अथवा किसी स्वायत्त संस्था द्वारा विनियमन होना चाहिए।

ये तो केवल कुछ ही मुद्दे हैं जिन्हें दुरूस्त किया जाना है। अनेक और भी हैं।

शासन अथवा फ़िल्म उद्योग के मुखियाओं द्वारा शुरुआत के अभाव में, सिनेमा में रूपगत शैली की बात करना निरर्थक है। ऐसी बातचीत केवल परिसंवाद-भवनों तथा कला-सिनेमा मण्डलियों में ही प्रतिध्वनित होगी। लेकिन चूँकि नब्बे आदि में इन कलात्मक पक्षों के समक्ष चुनौतियाँ होंगी, कुछ चर्चा तो की ही जायेगी।

सिनेमा में भाषा, शैली तथा अन्तर्वस्तु पहले किसी भी समय की तुलना में आज अधिक निकट रूप से अन्तर्सम्बद्ध हैं। **सलाम बॉम्बे** जैसी एक फ़िल्म लें, कलात्मक रूप से कोई महान उपलब्धि नहीं बल्कि तकनीकी रूप से एक *अच्छा* प्रयास। एक कमज़ोर शुरुआत के के पश्चात् फ़िल्म जीवंत हो उठती है जबकि वह बम्बई पहुँचती है। फ़िल्म में कथा एवं पटकथा बहुत सशक्त हैं। इनके पीछे एक शक्तिशाली विषय वस्तु (थीम) है। इसे पहले की फ़िल्मों में लिया जाता रहा है— वेश्या-जगत, अपराध, नशीली दवाएँ, ग़रीबी एवं बाल-शोषण, के मध्य सहसम्बन्ध, किन्तु यहाँ यह फ़िल्म की भावभूमि सुनिश्चित करता है। फ़िल्म की पटकथा-शॉट्स, दृश्य एवं श्रृंखलाएँ-सुसंयोजित तथा अक़्सर अतिरंजित है। और तब भी, परिपूर्ण ध्वन्यांकन तथा बदनाम गली, सस्ते ग्लैमर की समर्थ दृश्य-छवियों के उत्कृष्ट सामंजस्य के कारण यह प्रभाव छोड़ती है।

फ़िल्म का सबसे शक्तिशाली अंग है संवाद। यहीं नब्बे आदि की सबसे महत्वपूर्ण चुनौती सामने आती है। संवाद भारतीय फ़िल्म का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग है। दुर्भाग्यवश कालांतर में कला दस्तकारी बन गयी फिर एक रूढ़ोक्ति में पतित हो गयी। **पुकार** की सजावटी फ़ारसीनुमा उर्दू से लेकर **बरसात** की रूमानियत तक, **प्यासा** की ऐन्द्रिक पीड़ा, सांठ आदि के अंतिम वर्षों की ऋषिकेश मुखर्जी की फ़िल्मों का *भद्रलोक* आभिजात्य जो कि **आनन्द** में राजेश खन्ना तथा अमिताभ के शक्ति-प्रदर्शन में बदल गया। यह सलीम-जावेद के अतिपुरुष के उत्थान की और अग्रसर हुआ।

शेष इतिहास है।

यह एक दुःखद कथा है।

भारतीय सिनेमा (कला तथा व्यावसायिक) को जनता की बोलचाल की भाषा से अपनी कड़ी को पुनः प्राप्त करना होगा। अन्यथा यह मारा जायेगा। इस जगह **सलाम बॉम्बे** प्रवेश करती है। इसने नवाबों, डाकुओं अथवा भद्रलोक को नहीं बल्कि चालों को जीवंत किया। फ़ाकाक़श युवाओं की ख़याली उड़ानें, लोकप्रिय गीतों की उनकी चटखारेदार तोड़मरोड़— "मेरे सपनों की रानी कब आयेगी तू" का स्वाँग देखिये। कुछ इसे केवल क्षुद्रता अथवा अश्लीलता मान सकते हैं। तो भी, चीज़ों का यह प्रकार एक जीवित संस्कृति में अपना स्थान रखता है। इस गीत को बच्चों द्वारा दिया गया मोड़ मूल गीत की विवेक रहित रूमानियत को *उड़ा देता है।*

संयोजन, फ्रेमिंग, कैमरा-गति, ध्वनि

यदि मुझे इन तथा अन्य असंख्य सिनेमाई तत्वों के बारे में अमूर्तन में चर्चा करनी होती, मैं एक पाठ्य-पुस्तक लिख रहा होता। इन तत्वों की प्रकृति जानी-मानी है।

इनका समुचित उपयोग तथा मिश्रण है जो सिनेमा को 1. इसकी दर्शनीयता तथा 2. इसकी सार्थकता प्रदान करता है।

अब हम एक पाँव *कला* तथा दूसरा *व्यावसायिक* सिनेमा में रखने वाले अपने सबसे अच्छे कलाकारों में से एक विनोद चोपड़ा की कृति **परिन्दा** पर एक संक्षिप्त दृष्टि डालें। **परिन्दा** इन दो (कला एवं व्यावसायिक) संसारों के बीच सेतु है। इसकी शुरूआत देखें। बम्बई की खाड़ी, इसका सम्पूर्ण फैलाव कैमरे के सर्वदर्शी सर्वेक्षण में मायाजाल-सा रचे हुए है। यहाँ कला है जो कि अर्थ प्रदान करती है। बम्बई एक *नये बेबीलोन* के रूप में मायारचित है—एक राजसी किन्तु छलिया शहर। संगीत गीतात्मक नहीं है बल्कि आवेश के मुहाने के निकट सीमावर्ती है। यह एक शापित नगर है और चरित्र भी शापित है। किन्तु जबकि वे सजीव हैं, एक आधुनिक त्रसदी खेली जायेगी। चोपड़ा की सिने-कला त्रासदी की प्राचीन अवधारणा को आधुनिकता प्रदान करने में निहित है। फ़िल्म की नायिका (माधुरी दीक्षित) को *पारो* कहा जाता है। वह स्वर्गिक, अप्राप्य लगती है। वस्तुतः **देवदास** की *पारो* मेरे ख़याल में **देवदास** का यह तत्व **परिन्दा** में कहीं अधिक युक्तियुक्त है। और तब भी यह युक्तिकरण अनुचित नहीं है, व्यक्ति रोमाँस को स्वीकार कर लेता है।

क्यों? फ़िल्म में गीत, संपादन, कार्य-व्यापार के कारण। **परिन्दा** अपने पुरोहिति परिवेश से टूटा-बिखरा **देवदास** है तथा एक औद्योगिक नर्क में रोप दिया गया है। दिल के लिए उम्मीद क्या है, चोपड़ा पूछते हैं, इस शहरी नर्क में? किन्तु वे यह प्रश्न सिनेमा की शब्दावली में पूछते हैं। इसी प्रश्न में एक चुनौती अन्तर्निहित है। मेरे ख़याल से चोपड़ा, समग्रतः, एक विश्वसनीय प्रत्युत्तर लेकर आये हैं।

एक अन्य हैं जे.पी. दत्ता (**गुलामी, यतीम, हथियार, बँटवारा**) जो कि आधुनिक सिनेमाई तत्वों का उपयोग प्राचीन त्रासदियों—भावावेश, प्रेम, वर्जित काम, मृत्यु-इच्छा के सम्प्रेषण हेतु करते हैं। वे इटली के, सर्जियो लिओन की तकनीकों का उपयोग, नयी-निराली रीति से करते हैं। लम्बे टेक, धीमी गति, ऊँचाई से शूट करके मानवता को चींटी-जैसी क्षुद्रता में अवघटित करते हुए, फिर मध्यम (मिड) शॉट् तथा क्लोज़-अप पर कट् करते हुए। अंग्रेज़ी उपन्यासकार वर्जीनिया वुल्फ ने कहा था, "जीवन दूर से देखी गयी सुखांतिका और एकदम निकट से देखी गयी त्रासदी है।" दत्ता की कला इस उद्गार के सार से पगी हुई है। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसी परिवृत्तियाँ टोटकेबाज़ी-भरी हो सकती है।

अभिनय

फ़िल्म-अभिनय के लिए अपने का मंचीय अभिनय से अलग कर पाने तथा स्वयं अपने सही अन्दाज़ में खड़े हो पाने ने लम्बा समय ले लिया है। यह उन चुनौतियों में से एक है जिनका सामना हमारे सिनेमा को करना है। व्यावसायिक सिनेमा ने तो अपने अभिनय को कम मंचीय बनाने का कोई भी प्रयास काफ़ी पहले से छोड़ दिया था। अमिताभ ने अंतिम बार *अभिनय* **सौदागर** में, सत्तर आदि के आरंभ में

किया था। उसके बाद से ही वे एक *प्रतिमा* बन रहे हैं, एक *प्रतिमा* जो कि अब बिखरने लगी है।

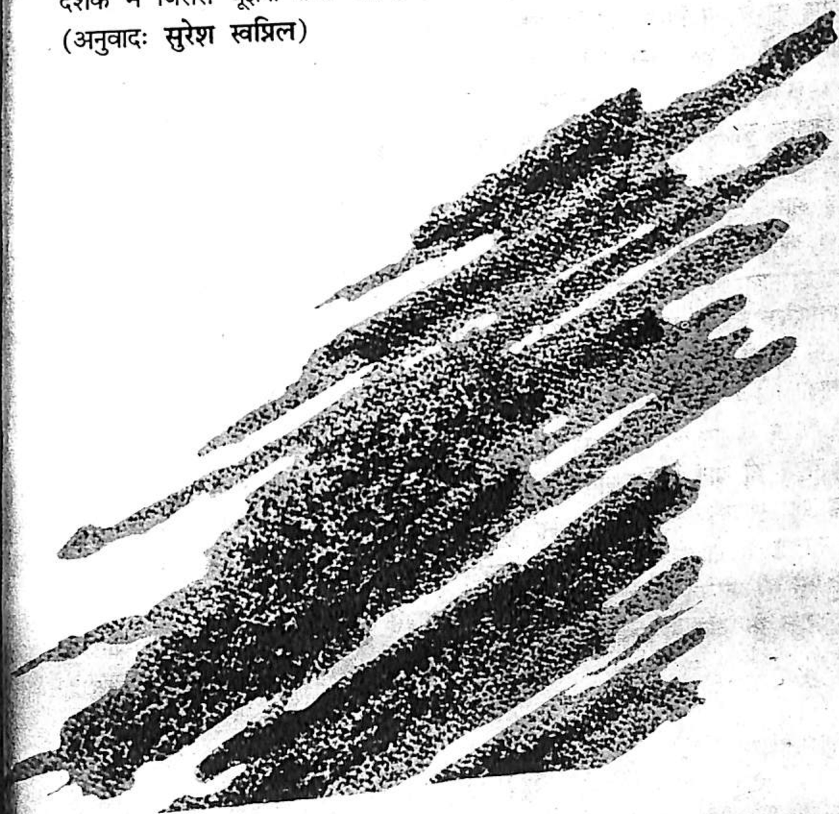
मैंने एक बार अडूर गोपालकृष्णन् से अभिनय की उनकी अवधारणा पूछी थी। "मेरे लिए भूमिका का 70 प्रतिशत अभिनेता के आकृति-विज्ञान में है, कि कैसे वह चरित्र के बारे मेरे प्रत्यक्षण में समाता है।" बाक़ी 30 प्रतिशत फ़िल्म की लय तथा एक न्यून सीमा तक स्वभावगत विलक्षणता, अभिनेता के निजी प्रयास से निर्मित होता है। यदि आप ममूटी को **मथिलुकल** में देखें तो समझ लेंगे कि अडूर का मतलब क्या है।

किन्तु यही है जिसे **यूरोपीय** फ़िल्म-अभिनय कहा जा सकता है, जहाँ निर्देशक राजा है। अभिनय की **अमरीकी** शैली में वैयक्तीकृत अभिनय के लिए आशुपरीक्षण (इम्प्रोवाइजेशन) का अत्यधिक योगदान 'अधिक अवकाश' है— **बैटमैन** में बोनी एवं क्लाइड तथा निकलसन जैसे दूरस्थ उदाहरण देखें।

इन दोनों के मध्य कोई कठोर अथवा अटल बाधा नहीं है। किन्तु बढ़ते-बढ़ते आधुनिक फ़िल्म-अभिनय "बैले की सूक्ष्म-पूर्णता की माँग" कर रहा है। वस्तुतः कला के प्रति भरत-नाट्यम के कलाकार—जैसा कट्टर समर्पण। इसे ही भारतीय फ़िल्म पाने में असफल हो रही है— कुछ अपवादों को छोड़कर यथा गोपी, ओमपुरी, नसीरुद्दीन शाह—एवं अन्य। बहुत-थोड़े से अन्य यथा पवन मल्होत्रा, सौमित्र चटर्जी, धृतिमान चटर्जी तथा ममूटी ही क़ाबिल होंगे।

फ़िल्म-अभिनय चुनौती के तमाम क्षेत्रों में से एक है, भारतीय सिनेमा को नब्बे के दशक में जिससे जूझना तथा जीतना है।

(अनुवादः **सुरेश स्वप्निल**)



विनोद भारद्वाज

2

भारतीय सिनेमा की सेहत अगर इस समय बहुत ख़राब नहीं है, तो उसे अच्छी भी नहीं कहा जा सकता। साठ के दशक के अंतिम वर्षों में भारतीय सिनेमा में जो तथाकथित नयी लहर सामने आयी थी, उसके सत्तर के दशक में भारतीय सिनेमा के विकास पर निर्णायक असर डाला। लेकिन अस्सी के दशक में इस नयी लहर के सिनेमा को कई तरह की चुनौतियों का सामना करना पड़ा। और अब नब्बे के दशक में जो फ़िल्में बन रही हैं या जो फ़िल्मकर्मी सामने आ रहे हैं, उन्हें देखकर बहुत उत्साहित नहीं हुआ जा सकता।

कोई भी विधा लंबे समय तक केंद्रीय नहीं बनी रह सकती। एक समय था जब सिनेमा को केंद्रीय विधा माना जा रहा था। लेकिन आज हम जब संगीत, चित्रकला आदि क्षेत्रों में उभर रही नयी प्रतिभाओं से सिनेमा विधा की तुलना करते हैं तो ऐसा लगता है कि नये फ़िल्मकारों के मुक़ाबले में नये चित्रकार या संगीतकार सर्जनात्मक स्तर पर अधिक चुनौतियों का सामना कर रहे हैं और वे हमें अधिक आश्वस्त भी करते हैं। इसकी क्या वजहें हैं? यह एक जटिल प्रश्न है और इसका कोई आसान उत्तर खोजना सही नहीं होगा। यह किसी से छिपा नहीं है कि सिनेमा विधा का ग्लैमर जितना भी हो, पर एक आधुनिक निर्देशक कैमरे का क़लम की तरह इस्तेमाल करना चाहता है तो वह एक लेखक, चित्रकार या संगीतकार की तरह व्यावसायिक तंत्र से मुक्त नहीं होता। एक लेखक या चित्रकार अपरिचय के वातावरण में भी अपनी सर्जनात्मकता से लड़ाई लड़ सकता है। फ़िल्मकार के लिए अनेक विधाओं की रचनात्मक चुनौतियों को समझने की ज़रूरत तो है ही। इसके अलावा उसे फ़िल्म बाज़ार को भी ध्यान में रखना होता है।

ग़ौर करने की बात है कि लगभग सभी देशों में सार्थक सिनेमा को किसी न किसी तरह की स्पांसरशिप का सहारा लेना पड़ा है। यह मदद किसी निजी संस्थान से हो या सरकार से लेकिन यह एक बड़ी सच्चाई है कि फ़िल्म सरीखे महँगे माध्यम में ऐसे पैसे की ज़रूरत है जो बॉक्स ऑफ़िस से वापस आये। लेकिन हमारे यहाँ साठ के दशक के अंत में जब अच्छी और अलग तरह की फ़िल्मों को फ़िल्म वित्त

निगम सरीखी संस्थाओं का आर्थिक सहयोग मिला तो अनेक फिल्मकारों ने यह मान लिया कि दर्शकों के बिना भी सिनेमा संभव है। अपने आप में यह एक शाश्वत बहस है कि कोई फ़िल्म कला फ़िल्म होती है या नहीं। अनेक फ़िल्मकार ये बात कई बार कई तरह से कह चुके हैं कि सभी फ़िल्में व्यावसायिक होती हैं। उन्हें कला या शास्त्रीय फ़िल्म कहना उचित नहीं है। फ़िल्म या तो अच्छी होती है या ख़राब, आदि-आदि। लेकिन किसी भी फ़िल्म के दर्शक ज़रूर होने चाहिए। इन दर्शकों की संख्या सीमित हो सकती है, पर अगर सिनेमा की जड़ें अपनी ज़मीन में हैं तो सिद्धांततः ऐसा हो ही नहीं सकता कि किसी अच्छी फ़िल्म को पर्याप्त दर्शक न मिलें।

ज़ाहिर है कि भारत सरीखे देशों में सिनेमाघरों और फ़िल्मों के वितरण की एक बहुत बड़ी समस्या है। इस देश में लंबे समय से मनोरंजन के नाम पर फ़िल्म विधा का इस्तेमाल एक अफीम के रूप में होता रहा है। इन फ़िल्मों के तंत्र के सामने कम बजट वाले विनम्र प्रयत्नों को आसानी से खड़े होने का मौक़ा नहीं मिलता। महानगरों में कुछ सिनेमाघरों में इन फ़िल्मों को चलाने की कुछ कोशिशें हुई हैं, पर उन्हें बहुत सफल नहीं कहा जा सकता। दरअसल इन तथाकथित सार्थक फ़िल्मों को टी.वी. की स्पांसरशिप काफ़ी लाभ पहुँचा सकती है। इधर इस तरह की कोशिशें हुई भी हैं। कुछ महत्वपूर्ण फ़िल्मकारों ने टी.वी. के लिए फ़िल्में बनायी हैं, पर वे छोटे पर्दे पर उन्हें दिखाने से पहले प्रीमियर शो सिनेमाघरों में ही करना चाहते हैं। यह ठीक भी है।

लेकिन टी.वी. के सहयोग का यह अर्थ नहीं होना चाहिए कि फ़िल्मकार अपनी विधा की भाषा ही बदल दे। ऊपर से देखने पर यह बात बहुत आसान लगती है, लेकिन सभी फ़िल्मकार किसी दूसरी भाषा की चुनौतियों का सफलतापूर्वक सामना नहीं कर पाते। अपवाद मौजूद हैं, लेकिन अधिक दर्शकों तक पहुँचने के मोह या ऋण मिलने की सुविधा को देखकर जब फ़िल्मकारों ने अपनी फ़िल्में परायी भाषा में बनायीं, तो वे अपनी ज़मीन से कट गये। सत्यजीत राय ने हिंदी में जब अपनी पहली फ़िल्म **शतरंज के खिलाड़ी** बनायी तो दर्शकों के अलावा फ़िल्मकार को भी निराश होना पड़ा। एक ताज़ा मिसाल लें तो हम देखते हैं कि बुद्धदेव दासगुप्त ने बंगला में बनायी फ़िल्मों में जो छाप छोड़ी है, वे उनकी हिन्दी फ़िल्मों में हमें नज़र आती है। **बाघ बहादुर** को भले ही पिछले साल की सर्वश्रेष्ठ फिल्म का पुरस्कार मिला, पर लगभग इसी कथानक पर बनी उनकी बंगला फिल्म **फेरा** में कहीं अधिक आत्मीयता और प्रामाणिकता है। दोनों फ़िल्मों में लोककलाओं की नष्ट होती दुनिया पर चिंताएँ प्रकट की गयी हैं। **बाघ बहादुर** की असफलता का एकमात्र कारण भाषा नहीं है, किन्तु निर्देशक द्वारा एक परायी भाषा में फ़िल्म बनाने के आग्रह ने निषेधी रचनात्मक दबाव डाले हैं।

यह कम महत्वपूर्ण बात नहीं है कि अडूर गोपाल, कृष्णन् सरीखे निर्देशकों ने हिन्दी में फ़िल्म बनाने की कभी कोशिश नहीं की है। दरअसल दूरदर्शन को इन सभी

फिल्मकारों को पर्याप्त आर्थिक आधार तो देना चाहिए, पर यह आग्रह नहीं होना चाहिए कि फ़िल्म हिंदी में बनायी जाये। क्षेत्रीय भाषाओं में बनायी गयी फ़िल्मों को अंग्रेज़ी संवाद के साथ आसाने से दिखाया जा सकता है। पिछले कुछ सालों से पुरस्कृत या चर्चित फ़िल्मों को छोटे पर्दे पर मूल भाषा में दिखाया जाता रहा है। और इस प्रयोग ने दर्शकों को बहुत निराश नहीं किया है।

मलयाली फिल्मकार अरविंदन ने कई साल पहले नयी दिल्ली के अंतरराष्ट्रीय फ़िल्म महोत्सव में इस बात पर बहुत ज़ोर दिया था कि वे लगभग एक चमत्कार की तरह बहुत कम बजट में अपनी फ़िल्में बना सकते हैं। उस जमाने में वे अपनी काली-सफ़ेद फ़िल्में डेढ़-दो लाख रुपये में बनाने का दावा कर सकते थे। आज तो ख़ैर इतने कम बजट में कोई फ़िल्म नहीं बनायी जा सकती, लेकिन अच्छे फिल्मकारों को कम बजट में काम करने की लगभग मज़बूरी होती है। इस सीमा को अनेक फ़िल्मकारों ने अपनी रचनात्मक संभावना में बदला है। सत्यजीत राय की **पथेर पांचाली** से शुरू होकर अरविन्दन आदि की फ़िल्में इस बात की अच्छी मिसाल है। जिस तरह से तमाम व्यावसायिक पत्रिकाओं में महत्वपूर्ण लेखकों की रचनाएँ छपती रहती हैं, लेकिन फिर भी उन्हें लघु पत्रिकाओं की ज़रूरत महसूस होती है, कुछ उसी तरह से फ़िल्म विधा के विशाल व्यावसायिक तंत्र में कम बजट की फ़िल्मों का अपना एक अलग आकर्षण और आवश्यकता है।

भारतीय सिनेमा में जहाँ तक अच्छी फ़िल्मों पर बात करने का सवाल है, हमें बार-बार बंगला और मलयालम सरीखी भाषाओं की शरण लेनी पड़ती है। बंगाल और केरल में फ़िल्म सोसायटी सरीखे आंदोलनों ने अच्छी फ़िल्मों के दर्शकों की संख्या बढ़ायी और इन प्रदेशों में सामान्य सांस्कृतिक जागरूकता भी अपेक्षाकृत अधिक है। पर इन प्रदेशों में भी कुछ ही गिने-चुने ऐसे फ़िल्मकार हैं जिनकी फ़िल्में प्रेक्षकों के लिए एक उत्तेजक अनुभव होती हैं। दरअसल अगर एक अच्छी फ़िल्म को 25 प्रतिशत सहयोग दर्शकों से मिले, तो फिर अन्य स्रोतों से लाभ उठाने का एक अलग अर्थ है। कहने का आशय यह है कि एक अच्छी फ़िल्म अगर किसी विदेशी फ़िल्म महोत्सव में पुरस्कार और चर्चा के बल पर अपनी लागत को पूरा कर सके तो भी उसे अपनी भाषा के दर्शकों से संवाद की सख़्त जरूरत है। और ये 25 प्रतिशत आधार तभी मिल सकता है जब फ़िल्मकार की जड़ें अपनी ज़मीन में हों।

हिंदी फ़िल्में दूसरी तरह की समस्याओं की शिकार रही हैं। एक समय था जब फ़िल्म कला और व्यापार की विभाजक रेखा इतनी क्रूर और अश्लील नहीं थी। राजकपूर, बिमल राय, गुरुदत्त सरीखे फ़िल्मकारों ने भी कला और व्यावसायिकता की चुनौतियों का सामना किया था। पर पिछले 20-25 सालों में हिंदी में जो अच्छी फ़िल्में बनी हैं उनमें से अनेक फिल्में तो बंगला फिल्मकारों द्वारा बनायी गयी है और जो फ़िल्में हिंदी सिनेमा के नाम से जानी जाती हैं उन्हें अगर अंग्रेज़ी सिनेमा भी कह दिया जाये तो बहुत ग़लत न होगा। आमतौर पर माना जाता है कि चित्रकला

या मूर्तिशिल्प की कोई भाषा नहीं होती। लेकिन अगर आधुनिक चित्रकला की कोई भाषा तय करनी ही हो तो वह निश्चित रूप से अंग्रेज़ी होगी। इसी तरह यह एक दुखद तथ्य है कि हिंदी के नये या सार्थक सिनेमा की भाषा अंग्रेज़ी ही है। इनमें से अनेक फ़िल्मकारों ने हिंदी साहित्य की मूल कृतियों को शायद पढ़ा भी नहीं होगा। कहा जा सकता है कि सिनेमा विधा अपने चरित्र में साहित्यिक कृतियों के फिल्मांकन पर आश्रित नहीं है। यह सही है, पर किसी भी भाषा में फ़िल्म आंदोलन तभी होगा जब उस भाषा में सक्रिय फिल्मकार तमाम दूसरी विधाओं के गहरे संपर्क में हों। केरल में स्थिति भिन्न है। वहाँ फ़िल्मकार ही नहीं, एक चित्रकार भी दूसरी विधाओं के संपर्क में रहता है। वह अपनी परंपरा के प्रति भी अधिक जागरूक है। नतीजा यह हो रहा है कि इन प्रदेशों में उभरी कला छद्म से काफ़ी मुक्त है। उत्तर भारत में सिनेमा विधा में तभी कोई बड़ा परिवर्तन आ सकता है, जब इन प्रदेशों में फ़िल्म संबंधी गतिविधियों को एक स्पष्ट आकार मिले। बिहार, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, राजस्थान या दिल्ली में जो युवा फ़िल्म प्रतिभाएँ सामने आती हैं। उनके सामने बंबई जाकर बसने की मज़बूरी नहीं होनी चाहिए। लेकिन इन प्रदेशों की राजधानियों की तो ख़ैर क्या बात की जाये, दिल्ली में भी ऐसी कोई जगह नहीं है जहाँ फिल्म विधा पर अच्छी किताबें, पत्रिकाएँ, संदर्भ सामग्री, वीडियो कैसेट या फ़िल्म काम्प्लेक्स आदि हो। नतीज़ा यह हो रहा है कि बहुत सी युवा प्रतिभाएँ कुंठित होकर कोई दूसरा रास्ता या विधा अपना लेती हैं। उत्तर भारत में यदि किसी फ़िल्म काम्प्लेक्स को बनाया जाये तो आगामी दशकों में स्थिति काफ़ी बदल सकती है। इस फ़िल्म काम्प्लेक्स में तीन या चार छोटे-छोटे सिनेमाघर, वीडियो फ़िल्म क्लब, पुस्तकालय, दुकानें, रेस्तराँ आदि बनाये जा सकते हैं। सबसे बड़ी समस्या फ़िल्म सम्बन्ध सामग्री के डाक्यूमेंटेशन की है। इतने बड़े देश में चीज़ें सिर्फ़ दो-तीन शहरों तक सीमित हों, यह कोई अच्छी बात नहीं है। पिछले कुछ सालों में इन पंक्तियों के लेखक की मुलाक़ात अनेक ऐसे युवकों से हुई है जो बिहार, उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश के किसी कस्बे में बैठकर ऋत्विक घटक से लेकर तारकोवस्की की फ़िल्मों के बारे में जानना चाहते रहे हैं। पर उन्हें ऐसी कोई जगह नहीं मिल पाती, जहाँ जाकर वे किताबें या पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ सकें, फ़िल्में देख सकें।

आज फ़िल्म संबंधी पुस्तकें भी बहुत महँगी हो चुकी हैं। आज से 20 साल पहले जेबखर्च बचाकर कुछ अच्छी फ़िल्म पुस्तकें खरीदी जा सकती थीं। आज स्थिति भिन्न है। पिछले दिनों इन पंक्तियों के लेखक की मुलाक़ात बरेली से आये एक किशोर से हुई जो सिनेमा विधा के प्रति समर्पित था। उसने अपनी सीमित सुविधाओं में ही बहुत कुछ जान लिया था। एक साल ट्यूशन करके उस युवक ने जो पैसा जमा किया उससे वह फ़िल्म सम्बन्धी किताबें खरीदना चाहता था। अपने आप में यह एक मार्मिक तथ्य है कि आज 500 रुपये में वह युवक सिर्फ़ दो किताबें खरीदने की हिम्मत कर सकता है। किसी अच्छे पुस्तकालय के अभाव में अन्य स्रोत नहीं हैं। ऐसे माहौल में अगर फ़िल्म संस्कृति बन सकती है तो सिर्फ़ किसी जीनियस के बल पर और जीनियस आसानी से नहीं पैदा होते।

फिरोज रंगूनवाला

3

हिन्दुस्तान में सिनेमा उतना ही पुराना है जितना कि सिनेमा। जन्म होते ही यह नयी खोज भारत भी आ पहुँची थी। हम चलचित्र दिखाने के सौ साल शीघ्र ही पूरे करेंगे। छोटी फ़िल्में बनाने का हमारा रिकार्ड नब्बे साल पार कर गया है; कहानी सहित फीचर फ़िल्म बनाते-बनाते अस्सी साल हो चुके और टॉकी (सवाक्) फ़िल्में बनाने के साठ साल।

अगर किसी जन-माध्यम को कथनात्मक और कलात्मक ढंग-से उपयोग में लाया जाये, तो वक़्त के गुज़रने से उसमें और निखार आता है। वह पुख़्ता होता है, नये रास्ते तलाश करता है परन्तु अपने आप पर काबू नहीं खोता। न तो वह ऐसे कोई आसार दिखाता है कि वह कमज़ोर हो गया है, सठिया गया है, विषय को चबाने-पचाने की शक्ति खो बैठा है, बीमार और बदसूरत हो गया है या बैसाखियों के सहारे चल रहा है। कुछ कलाएँ सदियों पुरानी हैं पर उनकी नयी कृतियाँ आज के फूलों की तरह ताज़ा लगती हैं। कुछ विदेशी मुल्कों में सिनेमा भी इस स्तर पर पहुँचा है।

लेकिन हमारा सिनेमा तो जैसे सचमुच "बूढ़ा" हो गया है। वह थका हुआ, झुका हुआ, ढीला-ढाला, कुरूप दिखता है। वह पुराने फ़ार्मूले के सहारे चलता है, कलात्मक चोरी का आसरा लेता है और सितारों की बाहरी चमक-दमक से अपनी गाड़ी खींचता है। मक़सद है केवल मुनाफ़ा कमाना। सितारों के नाम पर व्यापार होता है इसलिए वे लोग फ़िल्म के हर पहलू पर अपना हुक्म चलाते हैं। कुछ बेहतर फ़िल्में जो हर साल बनती हैं उनमें भी कुछ ऐसा जोश, कुव्वत या नयापन नहीं दिखता जो एक असाधारण मौलिक कृति में होना चाहिए और जो दर्शक को हिला कर रख दे।

ऐसा क्यों हो रहा है? क्या रोग लगा है हमारे सिनेमा को? क्या हम उसे ऐसी ही ग़र्द-नाक हालत में दशकों-युगों तक सड़ने देंगे? बिल्कुल नहीं। हम सबका और सरकार का फर्ज़ बनता है कि हमारे सिनेमा पर लगा हुआ यह मुर्चा, यह जंग, झटक दें, उसका नक़्ली और लालची अवस्था में बाहर खुली हवा में लाएँ और उसके पास लोक-रंजन और लोक हित का वह काम करवाएँ जिसके लिए वह बना है। अभी तक कई मंज़िलें पार करनी हैं, कई मैदानों को सर करना है, कई चुनौतियों से मुक़ाबला करना है।

क्या हैं ये चुनौतियाँ और क्या कदम उठाये जाएँ कि एक ऐसा परिवर्तन आये जो क्रांति से कम न हो। फ़िल्म का माध्यम क्या है। बुनियादी तौर पर यह जन-संपर्क के लिए है। फ़िल्मकार एक निपुण भाष्यकार जैसा है जो वर्तमान के सवालों पर साफ़-सुथरी विचार-धारा ज़ारी करता है, खोज-पड़ताल करता है और भविष्यवाणी भी कर सकता है। यह काम सिर्फ़ दस्तावेज़ी या लघु फ़िल्मों का नहीं है। फीचर फ़िल्में यह काम और खूबी से निभा सकती हैं क्योंकि इनसे कहानी, पात्र, ड्रामा, मनोरंजन और अभिनय के आकर्षण हैं। परन्तु फ़िल्म लेखक और निर्देशक में सरल जन-संपर्क या संचार की काबिलीयत होनी चाहिए। तभी वह बात को जनता तक आसानी से पहुँचा पायेंगे।

फ़िलहाल तो हमारे फ़िल्मी लोग वर्तमान की बातों पर ध्यान देते ही नहीं। और उनमें से कुछ लोग बड़ी-बड़ी बहस तो कर लेते हैं पर इस दिमाग़ी ताक़त का कोई अंश उनकी फ़िल्मों में नज़र नहीं आता। अगर वे किसी समस्या को छूते भी हैं तो वह समस्या और गंभीर हो जाती है। उस सवाल को उलझा-उलझा कर कमज़ोर बना दिया जाता है और उसका हल एक फंतासी के रूप में पेश किया जाता है। उदाहरण के तौर पर प्रचार यह किया जायेगा कि फलाँ फ़िल्म आतंकवाद के खिलाफ़ आन्दोलन करेगी। फ़िल्म देखने बैठो तो वही पुरानी लड़ाई— बहादुर हीरो और उसके साथ एक तरफ़ और विचित्र रंग-भूषा, वेश-भूषा में सजे विलेन और उसके गुण्डे दूसरी तरफ़। हथियार भी ऐसे-ऐसे काम में लाये जायेंगे कि असली आतंकवादी भी हैरत में पड़ जायें। इस सारे चकाचौंध करने वाले झमेले में असली बात और मक़सद दफ़न हो जाते हैं और जनता से संपर्क असंभव हो जाता है।

यह ज़िम्मेदारी हर सरकारी स्तर पर भी है और उन सभी संस्थाओं की भी जो फ़िल्म से सम्बन्ध रखती हैं और इस क्षेत्र में कार्य करती हैं। अब तक शायद यहि नहीं हुआ क्योंकि फ़िल्म के लिए राष्ट्रीय नीति और दृष्टि तय नहीं हो पायी है, जो हर कोने में लागू हो सके। सिनेमा का मक़सद, काम, उपयोग क्या है, इसकी परिभाषा क्यों नहीं बनायी गयी? उसके कार्य की रूपरेखा और सीमाएँ क्यों नहीं अपनायी गयीं? सिनेमा गंदी नालियों में पैर छपकाता हुआ चला जा रहा है और हम सब देखते रहते हैं।

अब यह बहुत ही आवश्यक हो गया है कि कुछ महत्वपूर्ण निर्णय लिये जाएँ और उन पर स्थायी तौर से अमल किया जाये। पहले यह तय किया जाये कि सिनेमा बाज़ार में बिकाऊ खान-पान जैसी एक वस्तु है या एक सामाजिक माध्यम है? फ़िल्म से सम्बन्धित लोग क्या केवल व्यापारी हैं या सर्जन और संपर्क की साध रखने वाले? अगर यह एक बेचने-खरीदने की चीज़ है अब तो इसे बाज़ार के नियमों पर छोड़ देना चाहिए, जिसमें *डिमांड* और *सप्लाय* ही वजूद रखता है, जिसमें धोखा-धड़ी होती है, नीचे-स्तर की वस्तु ऊँचे दाम पर दे दी जाती है और जिसमें हर तरह की मिलावट संभव है, चाहे वह कितनी ही ख़तरनाक हो। और अगर सिनेमा यह सब नहीं है तो उसे और नज़रियें से देखा जाये, उस पर अन्य मापदंड लागू हो सके।

बाज़ार में बिकती वस्तुएँ और पदार्थ भी अगर जनता पर शारीरिक रूप से असर करने वाले होते हैं, तो सरकार ने उनके लिए नियम और स्तर के प्रमाण बना रखे हैं। कई चीज़ों पर आई.एस.आई. मार्क लगाया जाता है, ताकि ग्राहक को भरोसा रहे कि यह अम्मक मयार से गिरी हुई नहीं होगी। खान-पान की मिलौनी पर तो और भी पाबंदियाँ हैं। तो यह फ़ैसला होना चाहिए कि सिनेमा भी दिमाग़, अंतःकरण और इंद्रियों का आहार-भोजन है। अगर उसमें मिलावट हो तो उसके परिणाम और भी ख़तरनाक हो सकते हैं, जो आज ही नहीं, बल्कि आने वाली पीढ़ियों पर अपना असर छोड़ सकते हैं। आश्चर्य की बात है कि सिनेमा की *क्वालिटी* के लिए कोई प्रमाण नहीं। सिर्फ़ आख़िरी पायदान पर सेन्सर बोर्ड द्वारा कुछ चीज़ें निकाल दी जा सकती हैं। तब तक तो तिज़ारती फ़िल्में हमारी भाषा, संस्कृति, नैतिक मूल्य को दूषित कर देती हैं, धर्म का नाजाइज़ फायदा उठाती है, ऊपर से इन्तेकाम, खून-ख़राबा, हिंसा और नारी-शरीर का खुला प्रदर्शन करती हैं।

इन सब की रोकथाम के लिए क्या क़दम उठाये जाते हैं? — सेंसर की कमेटियों से कुछ लड़ाई-बहस और कुछ आँख-मिचौली। उसके बाद ट्रिब्यूनल, सूचना मंत्रालय या फिर अदालत। कहीं न कहीं चोर-फ़िल्म बचकर निकल ही जाती है। उसके बचाव की बहस भी बड़ी ठोस है। 50 से 80 लाख रुपये खर्च हो चुके हैं, कई लोगों की क़िस्मत और रोज़ी-रोटी इस पर निर्भर है। और फिर यह देश का ही पैसा है। किसी भी फ़िल्म को पूरी तरह *बैन* कैसे किया जाये, इतनी महँगी चीज़ को क्या जला देंगे या गाड़ देंगे? आज तक कोई हिन्दुस्तानी फ़िल्म समुचित ढँग से रोकी नहीं गयी।

इस बुराई की जड़ यह है कि सेंसर प्रणाली आख़िरी कदम पर है, जबकि इसे पहली पायदान पर होना चाहिए। और अगर यह किया गया तो बहुत कम अरसे में भारतीय सिनेमा कर नक़्शा बदल जायेगा और फ़िल्म उद्योग एक नयी शक्ल में दुबारा पैदा होगा। यह पायदान पटकथा है और उसका सीधा सम्बन्ध कच्ची फ़िल्म की परमिट और निर्माता के लायसेंस के साथ हो सकता है। वैसे यही प्रमाण हर बड़े उद्योग के लिए लागू किया जाता है कि माल के उत्पादक की योग्यता क्या है और उसे कच्चा पदार्थ किस बलबूते पर देना चाहिए, ख़ासतौर से वह पदार्थ जो विदेशी मुद्रा से आयात किया जाता हो (जैसे फ़िल्म है)।

मौजूदा सिस्टम में इच्छुक निर्माता से यह पूछा जाता है कि आपकी कंपनी क्या है, कहाँ है और उसकी फ़िल्म के हीरो, हीरोइन, निर्देशक, संगीत निर्देशक कौन हैं और उनका मंजूरी-पत्र कहाँ है? ऐसे ही पाँच-छह पत्रों पर चन्द लोगों के हस्ताक्षर लेकर कोई भी निर्माता बन सकता है। फ़िल्म का हीरो शुरू से सोचता है कि मेरे बिना तो इसे कच्ची फ़िल्म तक नहीं मिलती, तो ऐसे प्रोड्यूसर का वजन क्या है, उसे तो कभी भी दबाया जा सकता है। दरअसल जो सवाल पूछे जाने चाहिए, वे हैं— आपकी फ़िल्म का विषय क्या है, आपकी पूरी पटकथा कहाँ है, आप यह फ़िल्म क्यों बना रहे हैं, आपकी योग्यताएँ (केवल शिक्षा का नहीं) क्या-क्या हैं और आपने

सरमाया का क्या बन्दोबस्त किया है?
हमें आशा रखनी ही चाहिए कि यह सुझाव सुनते ही कुछ स्वार्थी फ़िल्मवाले फ़ौरन चिल्लाना शुरू करेंगे कि इससे तो हमारी आज़ादी पर आक्रमण होगा, हम बढ़िया सृजन नहीं कर पायेंगे, राजनीतिक सेंसरशिप का ख़तरा बढ़ जायेगा इत्यादि। इन साहेबान से यह पूछना चाहिए कि क्या आप कोई ऐसी फ़िल्में बनाते हो, जिनको इस क़िस्म के ख़तरे का सामना करना पड़े?

वैसे ये ही ख़तरें क्या फ़िल्म को सम्पूर्ण करने के बाद सामने नहीं आ सकते? और इनसे टक्कर लेने के रास्ते भी मौजूद हैं। अगर बड़े बजट की फ़िल्म का बोझ सर पर उठाकर निर्माता अपीलेट ट्रिब्यूनल, मंत्रालय, अदालत आदि तक पहुँच पाता है, तो काग़ज़ पर लिखी पटकथा लेकर तो वह और आसानी से यह सब कर सकता है। पटकथा पर सेंसर का फैसला आख़िरी तो होगा नहीं। लेकिन जो फ़िल्म समाज के लिए ठीक नहीं उसके बनने को रोका जा सकेगा और उसमें लगने वाली पूँजी भी बरबाद होने से बचायी जा सकेगी।
सेंसर बोर्ड के मौजूदा ढाँचे के अन्दर-अन्दर ही इस नयी पद्धति को अमल में लाया जा सकता है। ज़ाँच करने वाली पैनल (एक्ज़ामिनिंग कमेटी) जैसे फ़िल्म को देखती है वैसे विस्तृत पटकथा और संवाद, गीत आदि का निरीक्षण करेगी। जो एतराज़ और काट-छाँट बाद में होने वाली है उनकी सूचना शुरू से देंगी। अगर सब सहमत नहीं हुए तो अगली पैनल (रिवाइज़िंग कमेटी) का निर्णय लिया जायेगा। फिर पटकथा को एक अल्पकालिक सर्टिफिकेट दिया जायेगा। जब फ़िल्म बनकर तैयार हुई तो वह उसी पैनल को दिखायी जायेगी। यहाँ फ़िल्मीकरण कैसे हुआ है सिर्फ़ इसकी जाँच करके और ज़रूरी काट-छाँट के बाद शीघ्र सर्टिफिकेट दिया जायेगा और सारी फ़िल्म को दुविधा में पड़ने की नौबत नहीं आयेगी। कई सीधी-सादी फ़िल्में तो देखते-देखते पास हो जायेंगी।
इसके और भी कई लाभ हैं। सम्पूर्ण पटकथा की ज़रूरत पहले क़दम पर होने से फ़िल्म उद्योग के काम करने के तरीक़े बदल जायेंगे और फ़िल्मों की *क्वालिटी* और स्तर उठने की संभावनाएँ बढ़ जायेंगी। जिन देशों में अच्छी फ़िल्में बनती हैं, वहाँ पटकथा और पेपर-वर्क पर काफ़ी समय और ज़ोर लगाया जाता है। फिर शूटिंग तेज़ रफ़्तार से तय किये अरसे में कर ली जाती है। निर्माण के दौरान छोटे-मोटे सुधार और कुछ नयी बातें पटकथा से हटकर शामिल की जाती हैं, पर फ़िल्म के मुख्य पहलू और केन्द्र बिन्दु को ध्यान में रखकर। लेकिन हमारे उद्योग में तो ऊट-पटांग कहानी को शूटिंग के पहले या सेट पर दृश्यों और संवाद का रूप दिया जाता है और तब्दीलियाँ लगातार होती रहती हैं। फ़िल्मी सितारों के दबाव में कई दृश्य लिखे जाते हैं। अगर बनी-बनायी पटकथा, सेंसर बोर्ड की अनुमति के साथ हो, तो उसमें कलाकार आदि दखलंदाज़ी नहीं कर सकते और निर्माण में बिना कारण देर या नुकसान भी नहीं हो सकता।

अगर पटकथा से यह पता चलता है कि फ़िल्म संदेहास्पद होगी या फिर किसी विदेशी फ़िल्म की समुचित नक़ल बनेगी तो उसे रोक देने की राय दी जा सकती है या कॉपीराइट प्राप्त करने की। इसी से हमारी फ़िल्में पाश्चात्य के रंगों में रँगने से बहुत हद तक बच जायेंगी और हमारी भाषाएँ, संस्कृति, रहन-सहन, तौर-तरीक़े भारतीयता से वंचित नहीं होते जायेंगे। निर्माताओं का रुख़ हमारे साहित्य, सभ्यता, समस्याएँ और विकास की ओर अधिक बढ़ेगा। आजकल जैसे निर्माता-निर्देशक अपने लेखक या संगीतकार को विदेशी/क़ामयाब फ़िल्म का वीडियो या ऑडियो कैसेट दे देते हैं और उस पर हिन्दुस्तानी जामा डालने को कहते हैं, वह सब बन्द हो जायेगा। वरना तो यह नौबत आयी है कि नये-पुराने दोनों क़िस्म के निर्माता बा-हिम्मत यह ऐलान करते हैं कि उनकी बनने वाली फ़िल्म फलाँ अमरीकी फ़िल्म पर आधारित है या गाना विदेशी तर्ज़ पर बना है। यह शर्मनाक तमाशा अब रुकना चाहिए। दुनिया में सबसे ज़्यादा फ़िल्में बनाने वाला देश, दुनिया का सबसे बड़ा नक़लखोर कहलाये, यह हालत फ़िल्मवालों ने बनायी है और सबके लिए डूब मरने वाली बात है।

फ़िल्मवाले यह दावा करते हैं कि वे कला और सृजन के माध्यम में काम कर रहे हैं। तो उनके लिए यही चुनौती होगी कि अपने विषय पर सोचें, कहानी का सृजन करें और कलात्मक मौलिक कृति को हर बार सामने लाएँ। आजकल तो कला-फ़िल्म और एन.एफ.डी.सी. द्वारा फ़िल्म बनाने वाले भी खुले आम इकरार करते हैं कि उनकी नयी कृति इंगमान बर्गमैन या रॉबेर ब्रेसां की फ़िल्म से प्रेरित है। फिर ये नक़लवाली फ़िल्में हम विदेशी महोत्सवों में कैसे भेज पायेंगे और विदेशी वितरण के लिए इन्हें कैसे बेच पायेंगे? इन फ़िल्मकारों से उम्मीद है कि ये हिन्दुस्तान की मिट्टी से कुछ पैदा करें। यूरोप या अमरीका के पुराने स्टेज ड्रामा या उपन्यास का अनुकरण करना यहाँ तक कि पात्रों के नाम भी वही रखना, उससे क्या फ़ायदा? फिर फ़िल्में बनानेवाले व्यापारियों को कोई क्या कह सकता है? यह एक और चुनौती है कि भारतीय सिनेमा को फिर भारतीय बना दें।

किसी भी क़िस्म के फ़िल्म निर्माता की अक़्सर यह शिकायत है कि उन्हें साधन-सुविधा आसानी से और साधारण दामों पर नहीं मिलते। फ़िल्म सृजन के लिए कोई योजना नहीं जिसमें सरकारी मदद से अनुकूल ढाँचा बन सके, जिससे अच्छी फ़िल्में कम बजट में बनायी जा सकें।

अगर स्क्रिप्ट सर्टिफिकेट प्रक्रिया शुरू की जाये तो केन्द्र और प्रादेशिक सरकार ये सुविधाएँ देने के लिए तैयार हो जाएँ, क्योंकि उन्हें यह विश्वास तो हो जायेगा कि अच्छे स्तर की फ़िल्में बन रहीं हैं। पर इसके लिए निर्माता की एक परिभाषा बननी चाहिए। वह एक ऐसा व्यक्ति हो जिसके पास फ़िल्म-निर्माण का साधारण ज्ञान, अनुभव और संचालन की योग्यता हो। दूसरे आवश्यक उद्योगों में भी उत्पादन की अनुमति देने से पहले इन बातों की जाँच की जाती है। उसके बाद इन निर्माताओं को ज़रूरी यंत्र, सामग्री और सुविधा साधारण दामों पर दे दी जाती हैं। बेशक, जो बाज़ार में प्राप्त या उससे बढ़िया सेवा चाहता हो, वह उन्हें ऊँचे दामों पर ले सकता है।

निर्माता के लिए एक पेचीदा सवाल यह भी होगा कि वह फ़िल्म के लिए फायनेंस कितना, कैसे और कहाँ से जुटाने वाला है। सैकड़ों फ़िल्में केवल इसीलिए रुकी पड़ी हैं कि इनके लिए पूँजी का कोई ठीक बन्दोबस्त नहीं किया गया था। और बहती गंगा रुकते ही सबने अपने-अपने हाथ उठा लिये। फायनेंस का विवरण देने से फ़िल्मी धन्धे को उद्योग का दरज़ा देना आसान हो जायेगा। फिर उन्हें बैंक या अन्य संस्थाओं से अन्य कर्ज़ (लोन) आसानी से मिल पायेगा। जब तक फ़िल्म की लागत काले पैसे से आती रही तब तक उस उद्योग में कोई विश्वास नहीं कर सकता। यह हराम का या दो नम्बर का पैसा, हर तरह के काले धन्धों से, और जुआ, शराब वैश्याघर आदि सामाजिक बुराईयों से, या स्मगलिंग की प्रवृत्तियों से प्राप्त होता है। जो सोना-चाँदी-नशीली दवाएँ आदि से करोड़ों की हेरा-फेरी करते हैं, जो सीमेन्ट में रेत मिलाकर कच्ची इमारतें खड़ी करते हैं, जो हीरे-जेवरात की गोलमाल से लखपति बनते हैं, या जो सट्टा बाज़ार के आदी हैं या "बीसी" जैसे ख़तरनाक खेल खेलते हैं, उन्हीं के पैसों से ज़्यादातर फ़िल्में बनती हैं। गन्दे सरमाये से बनी कृतियाँ गंदी नहीं तो और क्या होंगी?

क्या सरकार यह चाहती है कि काले धन को बाहर लाने के लिए फ़िल्म का ही बेहतरीन उपयोग किया जाये? क्या इस माध्यम के लिए उनकी और कोई ज़िम्मेदारी नहीं? क्या जनता के शारीरिक उपयोग की चीज़ों द्वारा काला पैसा बाहर निकालना उचित होगा? तो फिर उनके मानसिक विकास और भलाई की चीज़ के लिए उसका इस्तेमाल क्यों? इसी उसूल को लेकर सरकार फ़िल्म के विविध क्षेत्रों पर टैक्स का बोझ भी लादती रहती है। कभी-कभी तो यह शक होता है कि सरकार इतनी सारी बुरी और वीभत्स फ़िल्मों को क्यों नज़रअंदाज़ करती है? क्या उनको यह डर है कि सरकारी ख़जाने में जाती इतनी बड़ी आमदनी कम न हो जाये?

अगर सिनेमा का चेहरा बदलना है तो हर एक को अपना दृष्टिकोण बदलना होगा। फ़िल्म को लालची निगाहों से देखना बन्द करना होगा। यह मान लेना होगा कि फ़िल्म केवल मुनाफ़ाखोरी और कर-वसूली का माध्यम नहीं, सिर्फ़ मनोरंजन और तफ़री का सामान नहीं। सिनेमा आज, कल और परसों के लिए है। आनेवाले कल की तस्वीर के और भविष्य की पीढ़ियों के लिए यह रचना अभी हो रही है, यही समझकर हमें चलना चाहिए।

सिर्फ़ निर्माण क्षेत्र को सही रास्ते पर लाना अधूरा और बेमतलब होगा। फ़िल्म की हस्ती वितरण और प्रदर्शन के साथ ऐसे जुड़ी हुई है कि मयार को ऊपर लाने की सारी कोशिशें बेकार जायेंगी, अगर ये फ़िल्में बिक कर रिलीज़ नहीं हो पायीं। हाल में 100 से ज़्यादा तैयार फ़िल्में डिब्बों में बन्द हैं क्योंकि उन्हें कोई डिस्ट्रीब्यूटर नहीं खरीदता। और बड़ी मात्रा में फ़िल्में रुकी पड़ी हैं। राष्ट्रीय धनराशि का यह घाटा करोड़ों में पहुँच गया है। इसे कैसे उद्योग मान सकते हैं जिसकी उपज को बेचने का कोई तरीक़ा या भरोसा नहीं? बना बनाया माल बाज़ार तक पहुँचना तो चाहिये— फिर देखा जायेगा कि यह जनता को पसंद आकर चलता है या नहीं चलता है।

हर वस्तु को इतना मौक़ा तो मिलता है, लेकिन फ़िल्म को नहीं।

इस तीव्र मुसीबत का कोई तीव्र इलाज़ होना चाहिए। फ़िल्म का बाज़ार मुख्य इलाके कवर करता है। जब वितरक फ़िल्म को खरीदकर प्रदर्शक को देता है, तभी दर्शक टिकट के ज़रिये उसकी कीमत को वसूल करता है। इसलिए निर्माता को यह गारंटी देना चाहिए कि उसकी फ़िल्म के मुख्य खरीददारों ने उसके साथ अनुबंध कर लिये हैं और ये सरकारी तौर पर रजिस्टर कर लिये गये हैं ताकि इन्हें किसी भी हालत में तोड़ा न जा सके। (जैसे कि आजकल रिलीज़ के आख़िरी समय पर होता है)। इससे फ़िल्म की जुएबाज़ी कम हो जायेगी। अपनी तरफ़ से सरकार को चाहिए कि छोटे-छोटे वितरण चैनल हर प्रदेश में स्थापित करें, वे उन फ़िल्मों को खरीदें जो व्यापारी तौर पर बेचना आसान नहीं। टी.वी. के अतिरिक्त यह वितरण कार्य सिनेमागृहों तक पहुँच सकता है और ज़रूरी आमदनी बटोर सकता है। हर एक तैयार फ़िल्म हर एक स्थान पर अगर एक सप्ताह भी चले तब भी उसका खर्च और कुछ मुनाफ़ा ज़रूर निकल आने की गुंजाइश है।

ऐसी कोई वस्तु बनाने का क्या फ़ायदा जिसका बाज़ार से कोई सम्बन्ध ही नहीं हो। पहले ज़माने में जब मेहबूब, कारदार, सोहराब मोदी या राजकपूर फ़िल्म बनाते थे तो शुरू से ही उसकी बिक्री का अनुबंध हो जाता था, बल्कि वितरक उसमें सरमाया भी डालना शुरू कर देते थे। छोटे-छोटे निर्माता भी पटकथा और सेट-अप के आधार पर इतना तो प्रबन्ध कर ही लेते थे। आज भी कुछ प्रादेशिक फ़िल्मों में यह होना साधारण बात है। यही व्यवस्था फिर से लागू होनी चाहिए।

हाँ, आधुनिक इलेक्ट्रॉनिक युग में हम सिनेमागृह पर यह पाबंदी नहीं डाल सकते, जबकि वीडियो पार्लर से टक्कर लेने का भी कोई रास्ता हम नहीं निकाल पाये। बहुत से थियेटर आज सफ़ेद हाथी बन गये हैं। उनकी हालत खंडहरों-सी होती जा रही है। टी.वी. और वीडियो केवल सेटलाइट ने थियेटर जाने की मुसीबतों से और खर्च से दर्शक को छुटकारा दिला दिया है। कई सिनेमा-हॉल महीनों से बन्द पड़े हैं या तोड़ दिये गये हैं। अब तो फ़िल्म उद्योग के पास ग्राहक तो क्या, दुकानें भी न रहीं। इतना भारी नुकसान हर सप्ताह उठाकर कोई भी थियेटर-मालिक या चालक (लीज़ पर चलाने वाला) कैसे काम चला सकता है। ज़बर्दस्ती थियेटर चलवाने की सज़ा ग़ैर-नैतिक भी है और ग़ैर-कानूनी भी। किसी न किसी दिन देश के बहुत सारे थियेटर बन्द हो ही जायेंगे। यह सारी ग़लती सन् 60-90 के दशकों में हुई, जब फ़िल्में धूम से दो-दो, तीन-तीन साल चलती थीं और प्रदर्शकों ने 1000 से अधिक सीट वाले थियेटर बनाये और महलों जैसी सजावट-सुविधा भी हाज़िर की। आज ये सब बेकार और बेफ़ायदेमन्द नज़र आता है। उस वक़्त अगर भविष्य को ग़ौर से समझा जाता या अमरीका-इंग्लैंड से चलती हुई तब्दीलियाँ ग़ौर से देखी गयी होती, तो यह ग़लती नहीं होती। पर उस वक़्त तो बँधे हुए साप्ताहिक रेन्टल (किराया) निकालने की लालसा थी।

ख़ैर, अब थियेटर की जगह शॉपिंग-बिल्डिंग कॉम्पलेक्स कई गुना लाभदायी है, तो नया नज़रिया अपनाने का वक़्त आ गया है। 300 या 400 सीटवाले, सीधे-सादे, सिर्फ़ अच्छा प्रोजेक्शन की गारंटी देनेवाले थियेटर बड़ी मात्रा में बनने चाहिए। फ़िल्म की आख़िरी मंज़िल तो थियेटर ही है। वरना सालाना दो-तीन सुपर-हिट फ़िल्मों की उम्मीद पर सारा उद्योग नहीं चल पायेगा। ऐसे थियेटर बनाने वालों को हर तरह का प्रोत्साहन मिलना चाहिए और सरकार स्वयं भी छोटे या बेकार पड़े हुए सभा-घरों में प्रोजेक्टर लगाकर इन्हें अस्थायी थियेटरों के रूप में चला सकती है, ताकि बहुत सारी फ़िल्में रिलीज़ हो पाएँ।

बड़े और चमक-दमक वाले सिनेमागृह के देहांत के साथ, फिजूल में बनती बड़े बजट वाली और शानदार पर खोखली फ़िल्मों का भी अन्त हो जायेगा। बड़े पैमाने पर मनोरंजन देने वाले कुछ और ज़रिये पैदा होंगे। कुछ गिनीचुनी फ़िल्में बड़े पैमाने पर बनेंगी और इनके लिए कुछ बड़े सिनेमागृह भी अवश्य ज़ारी रहेंगे। करोड़ों की बात करने वाले फ़िल्मवाले लाखों पर वापस आ जायेंगे। वरना आजकल तो मामूली से मामूली स्तर की, घटिया से घटिया बात कहने वाली फ़िल्म का बजट भी करोड़ के ऊपर कहा जाता है। राष्ट्रीय पूँजी की यह एक और लगातार बरबादी है। दो-चार हफ्तों के बाद इन फ़िल्मों के नाम भी याद नहीं रहते।

छोटे सिनेमागृहों की एक बाड़ देश भर में फैल गयी, तो उन हज़ारों दर्शकों पर उपकार होगा, जिनके पास टी.वी.-वीडियो की सुविधा नहीं। और हर क़िस्म की फ़िल्म का रिलीज़ होना संभव होगा, जिससे उद्योग की आर्थिक हालत सुधर जायेगी। बच्चों की ख़ास फ़िल्में, दस्तावेज़ी फ़िल्में और अन्य नये ढंग की फ़िल्में (जैसे विद्यार्थियों द्वारा बनी) दिखाने के रास्ते खुल जायेंगे। इन थियेटरों का किराया कम होगा, प्रचार के तरीक़े साफ़-सुथरे और सस्ते होंगे, फ़िल्में कम दामों पर बेची जायेंगी, मुनाफ़े का बँटवारा बराबर का होगा। आख़िर यह बेढंगी-बेहूदा चाल हम कब तक चलेंगे, जिसमें नयी से नयी फ़िल्में मॉर्निंग शो में 11 बजे चलाई जाती हैं जबकि उसी थियेटर में पुरानी घिसी-पिटी फ़िल्म नियमित तीन शो में ख़ाली कुर्सियों को दिखायी जाती है। उद्योग को उद्योग कहलाने के लिए यह एक और चुनौती है। क्या नये उत्पादन को भला कोई दुकान की पिछली आलमारी पर रख सकता है?

क्रांतिकारी सुधार के सुझाव जब भी दिये गये, तो ग़लत सोचने वाले और ग़लत-फहमी फैलाने वाले कमर कसकर तैयार हो जाते हैं। इसलिए यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि इनका मक़सद यह नहीं कि इनके द्वारा केवल शिक्षा-प्रधान, दक़ियानूसी, जानकारी देने वाली, प्रचार करने वाली या बोर करने वाली फ़िल्में बनायी और दिखायी जायेंगी। यह नया ढाँचा फ़िल्म उद्योग को अपने ही ढंग की मनोरंजक फ़िल्में, बेहतर तरीक़े से और मज़बूत आर्थिक बुनियाद पर बनाने के लिए है। रफ़्ता-रफ़्ता यह ढाँचा ऐसी भारतीय फ़िल्में ऊपर लायेगा जो अच्छी फ़िल्में कहला सक़ती हैं, जैसे दूसरे विश्व युद्ध के पहले बनती थीं और आज भी दूसरे देशों में अधिक मात्रा में बनती हैं। यह क्रांति सरकार की मदद से खुद उद्योग को ही लानी है।

उद्योग में कुछ गिनती के लोग ऐसे हैं जो सिनेमा को सट्टा बाज़ार या घुड़-दौड़
का मैदान बनाकर अपने लिए ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफ़ा करते हैं, जबकि उद्योग के
ही सैकड़ों काबिल लोग पीछे रह जाते हैं, ख़तरा मोल लेते हैं और मुफ़लीसी की
हालत में आ जाते हैं। पिछले सालों में हर क्षेत्र में कई फ़िल्म कंपनियाँ बन्द हो
गयीं और कई गुणी लोग उद्योग की टेढ़ी चाल और गोरख-धन्धे से तंग आकर
दूसरे कामों में जुट गये। चन्द मुनाफ़ाखोर लोग जो अपनी मोनोपोली खोना नहीं
चाहते, वे सुधार के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाते हैं और गुमराह करने वाली बहसें करते
हैं, जैसे कि उद्योग की आज़ादी छिन जायेगी, सरकार का नियंत्रण होगा, बेहतरीन
तरीक़े से व्यापार नहीं हो पायेगा और उद्योग बन्द हो जायेगा। इन लोगों को सोचना
चाहिए कि जब इनकी अपनी कोई फ़िल्म किसी वजह से मुश्किल में आन पड़ी,
तो यह नयी पद्धति इनको भी किनारे लगा सकती है।
दरअसल, बेतहाशा और बेक़ाबू लालच ने ही इस माध्यम को चौपट करके रखा है
और सही तरीक़े से इसका विकास नहीं होने दिया। बात इस हद तक पहुँची कि
व्यापारी निर्माता तो क्या, कला फ़िल्म बनाने वाले भी सितारों को लेकर हर टेरीटरी
से एक करोड़ वसूल करना अपनी सबसे ऊँची सिद्धी प्राप्ति समझते हैं। कुछ निर्माता
यह चक्कर चला लेते हैं और फ़िल्म की ऐसी हवा फैलाते हैं कि वितरक-प्रदर्शक
छलावे में आ जाते हैं। बाद में इनको और अन्य उद्योग वालों को भी जनता से
यह रकम वसूल करते नाक में दम होता है और परेशान होकर नुकसान सह लेना
पड़ता है। अब वितरक-प्रदर्शक बहुत ज़्यादा चौकन्ना हो गये हैं और आख़िरी तपके
तक फ़िल्म की बुकिंग नहीं करते। टिकट-खिड़की से जो पैसा कमाया गया उसका
बराबर का फ़ायदा अलग-अलग क्षेत्रों को कभी नहीं हुआ। जो मौक़े पर तीर मार
लेता है, वह कमा लेता है। उद्योग की नैया और भी डाँवाडोल होती है।
आख़िर में *मनोरंजन* की परिभाषा क्या है यह भी तय कर लेना ज़रूरी है। तिज़ारती
फ़िल्मकार अक़सर चिल्लाकर कहते हैं— "हमारा काम शिक्षा देना नहीं। वह
स्कूल-कॉलेज़ का कर्तव्य है। हम सिर्फ़ मनोरंजन तैयार करके पेश करते हैं।" ठीक
है, तो मनोरंजन हो तो कैसा? वाहियात, बेबुनियादी, अनर्थक, असंगत, कम-अक़्ली
बातों को या बेहूदा प्रदर्शन को तो आप मनोरंजन नहीं कह सकते। तर्क को तो
आपने तिलाँजलि दे दी है। "तर्क गया जहन्नुम में", कहते हैं बड़े निर्माता। और
बेचारे दर्शक कहाँ जायें?

ऐसे लोगों ने जनता को अफीम पिला-पिलाकर बहुत दौलत कमा ली। अब तो जनता
भी उनके अफ़ीम से ऊबने लगी है। वही जाना-पहचाना मिश्रण— रोना-धोना,
नाच-गाना, कॉमेडी, मारधाड़ और लोकप्रिय सितारों की अदाएँ। यह पेराइटी-प्रोग्राम
है, कितना भी नीचे गिरे कोई कुछ नहीं कर सकता। फ़िल्मों की कहानी-पटकथा-ट्रीटमेंट
(या उनके नाम पर जो भी होता है) वह दर्शक के दिमाग़ को उलझाता है, उसके
अच्छे गुणों को कमज़ोर बनाता है, समाज की ओर उसके दायित्व को छिन्न-भिन्न कर

देता है। यह घटिया सपनों की दुनिया है जहाँ कुछ भी हो सकता है, हर समस्या का हल इच्छा-पूरण के आसान ख़्वाब से हो जाता है। अपने और समाज के असली दुखों के ख़िलाफ़ जंग करने की देशवासी की शक्ति ख़त्म हो जाती है। हमारी अधिकतम फ़िल्में सिर्फ़ एक ही चीज़ पैदा करती हैं और वह है *कन्फ्यूज़न,* भ्रम से लादी हुई व्याकुलता। फ़िल्म से सम्बन्धित साहित्य की भी बहुत हद तक यही हालत है। जैसे आमतौर पर पत्रिकाएँ और लेख प्रकाशित होते हैं।

सही मानों में मनोरंजन पैदा करना हर फ़िल्मसाज़ के लिए एक चुनौती है। जिस सृजन में ताज़गी-नयापन हो, जिससे आनंद प्राप्त हो, जो हमें आरंभ से आखिर तक जकड़ कर रख सके, जिसकी इमारत तर्क के आधार पर हो, जिससे हम मानव जीवन-स्वभाव आदि के बारे में कुछ जान सकें, जिससे हमारा अनुभव और पुख़्ता हो, जिसका केन्द्र बिन्दु हमें गुमराह या व्याकुल न करे ताकि हम उस पर सोचना छोड़ दें, ज़िसमें विविध कलाओं के अंश परोसे जाएँ पर फ़िल्म विषय के दायरे के अंदर रहकर, जिसे देखने के बाद हमें खुशी और ऊँची उड़ान का एहसास हो, जिसकी याद हमारे साथ कई दिनों तक रहे और सोचने-बोलने पर मजबूर करे। इत्यादि-इत्यादि। सम्पूर्ण तफ़री देनेवाली काल्पनिक फ़िल्म भी यह फर्ज़ अदा कर सकती है।

ये सारी नयी चुनौतियाँ हमारे फ़िल्मसाज़ों को और दर्शकों को घूर कर देख रही हैं। इनको ऊपर उठाना है, सहीं मंज़िल पर पहुँचाना है, मौजूदा दशक व आनेवाली सदी में सिनेमा के हर पहलू का सही इस्तेमाल करके फ़िल्म को एक ऐसे मुक़ाम पर लाना है जहाँ वह ज़िम्मेदार हो, शिक्षक हो और रक्षक भी, जहाँ निर्देशक एक राष्ट्रीय स्तर का कलाकार हो और सितारों की जगह अदाकार हो, जहाँ सच्चाई, समर्पण, लगन और नयी कला का लगातार निर्माण हो।

इन्हीं से बेहतर सिनेमा की रचना होगी और बेहतर समाज की भी।



मनमोहन सरल

4

हिन्दुस्तानी सिनेमा को सबसे बड़ी चुनौती तो खुद से ही यानी मौजूदा सिनेमा से है
नया कोई गुणात्मक-क्वॉलटेटिव शब्द नहीं है बल्कि यह तुलनात्मक-रिलेटिव होता है।
जो पहले नहीं था वह नया है। इह लिहाज़ से आज जो चुनौतियाँ हैं वे पहले नहीं
थीं इसलिए नयी हैं। हिंदुस्तानी सिनेमा के जनक दादा फालके के जमाने में जो
चुनौतियाँ उनके सामने थीं, वे तब नयी थीं पर वे आज नयी नहीं हैं, इसी तरह
आज से दो दशक पहले की स्थिति फ़र्क़ रही है, उसकी तुलना में आज जो है, वह नया है।
यों साहित्य ने एक नये शब्द को बहुत ज़्यादा एक्सप्लायट कर लिया है— नयी
कविता, नयी कहानी, नवगीत आदि। विशेषण से संज्ञा बनने की प्रक्रिया में यह *नया*
शब्द अपनी असलियत खो बैठा है और नयी कविता लौट-फिर कर छायावाद और
रीतिकाल के काफ़ी नज़दीक पहुँच गयी या नवयथार्थवाद के गलियारे में भटकने लगी
है। साहित्य में *नया* शब्द फिर भी गुणात्मक रहा है क्योंकि शैली और विषयों की
परिधि में काफ़ी कुछ बदला है।

ख़ैर, यहाँ तो बात सिनेमा की करनी है, नवयथार्थवाद— यानी निओरिअलिज़्म,
पश्चिम के रास्ते हमारी फ़िल्मों में जब आया था, वह वक्त भी अब बीत चुका है।
उस वक़्त की फ़िल्मों के सामने दूसरी चुनौतियाँ थीं। नवयथार्थवाद ने सिनेमा को
नयी भाषा दी जिसे नया सिनेमा कहा गया। नया सिनेमा को और भी कई सारे नाम
दिये गये— समांतर सिनेमा, दूसरा सिनेमा, कला सिनेमा वग़ैरह, तो इस नये सिनेमा
ने तत्कालीन प्रचलित सिनेमा के सामने जो चुनौतियाँ खड़ी कीं, वे उस वक़्त के
लिए नयी थीं। इस सिनेमा ने उसके प्रायः 50 सालों से जमे साम्राज्य को जिस
तरह हिला दिया उसका ख़तरा व्यावसायिक सिनेमा काफी देर तक महसूस करता
रहा। **अर्द्धसत्य, छोटी सी बात, सुबह** जैसी छोटी, सामान्य कलाकारों को लेकर
बनी कई फ़िल्मों ने सफल हो कर हिन्दी सिनेमा के दिग्गजों को स्तंभित कर दिया
और यह सोचने के लिए मजबूर कर दिया कि मामूली लागत से बनी इन फ़िल्मों
में आख़िर ऐसा क्या है जो भारी स्टारकॉस्ट और बड़ी लागत से बनी व्यावसायिक
फ़िल्मों से ज़्यादा बड़ा ड्रॉ ये ले रही हैं, लागत के अनुपात में इनका लाभांश भी
ज़्यादा बड़ा था, जबकि मल्टी स्टारर फ़िल्मों में तो कुछ गिनीचुनी ही ऐसा लाभांश

कमा पाती थीं। बल्कि कई सारे बड़े सितारों को एक ही फ़िल्म में लेने का चलन भी इन छोटी फ़िल्मों द्वारा उपस्थित की गयी चुनौती की वजह से ही शुरू किया गया था जिससे दर्शक को एक ही साथ कई लोकप्रिय सितारे एक फ़िल्म में मिलें तो उसका आकर्षण कई गुना ज़्यादा बढ़ जायेगा, और ऐसी फ़िल्म बड़ा आरंभिक ड्रॉ बटोर सकेगी।

अरसे से हिन्दुस्तानी सिनेमा की दुनिया सपनों और फैंटेसी की दुनिया रही है। इसके ज़रिये आम दर्शक को ऐसी अवास्तविक लेकिन लुभावनी मनोरम दुनिया में ले जाने की कोशिश हमारे ज़्यादातर फ़िल्मकार करते आ रहे हैं जहाँ दर्शक अपने अवचेतन में कल्पना किये गये मायावी सपनों को पूरा होता महसूस करने लगे। कुछ आलोचकों ने ज़्यादातर हिन्दुस्तानी फ़िल्मों को पलायन का सिनेमा कहा है यानी असली समस्याओं, ज़िंदगी को वास्तविक संघर्षों और अभावों से कम से कम मन को तीन घंटे के लिए छुट्टी दिला सकने वाला सिनेमा। चालीस के दशक के कुछ प्रगतिवादी प्रतिबद्ध फिल्मकारों— जैसे महबूब **(रोटी)** या व्ही. शांताराम **(दहेज, दो आँखें बारह हाथ)** और एक सीमा तक सोहराब मोदी **(पुकार)** को छोड़कर ज़्यादातर फ़िल्मकार इसी श्रेणी में आते हैं। हालाँकि बाद में इनमें से भी कई कमोबेश फैंटेसी की मायावी शैली की ही फ़िल्में बनाने लगे थे।

बहरहाल, इस फैंटेसी की अवास्तविक दुनिया के अतिरेक ने ही समांतर धारा को व्यापक समर्थन जुटाया था। एक तरह से इन छोटे बजट और सीमित साधनों से बनने वाली फ़िल्मों के लिए उस समय यह चुनौती थी कि बड़ी, सफल और समर्थ फ़िल्मी हस्तियों से कैसे लोहा लिया जाये, इसी बात ने उन्हें नया रास्ता और नयी दिशा दिखाई थी। व्यावसायिक सिनेमा के इसी अवास्तविक चित्रण ने उनके सामने लक्ष्य रख दिया था— कि यथार्थ, वास्तविक, ज़िंदगी और समाज से सीधा जुड़ा हुआ सच्चा और ईमानदार चित्रण किया जाये। यह उस समय के प्रचलित ढर्रे पर चलने वाले सिनेमा से अलग था, नया था, इसलिए पसंद किया गया; और यहाँ तक कि **आक्रोश** और **अर्द्धसत्य** तक आते-आते दर्शक ने इन फ़िल्मों में अपनी आइडेंटिटी तलाशना शुरू कर दिया। और इसी बात ने व्यावसायिक या एक तयशुदा ढर्रे पर बनने-वाली फ़िल्मों की सत्ता में दरार डाल दी।

यहाँ दो स्थितियाँ एक साथ उभरीं। एक तरफ़ तो ऐसे फ़िल्मकारों ने पहल की जो अपने संस्कारों में तो व्यावसायिक थे पर इस परिवर्तन को भाँप कर नया कर दिखाने में समर्थ थे। हाँ, वे व्यावसायिक सिनेमा में रहते हुए भी सफल नहीं हो पाए थे। इनमें महेश भट्ट जैसे नामों का शुमार किया जा सकता है जिन्होंने सारांश के ज़रिये थोड़े सजग किंतु भावुक दर्शक को भरमाने का सफल रास्ता खोज निकाला। दूसरी स्थिति खुद समांतर फ़िल्मकारों ने खड़ी कर दी, जो या तो अनायास मिली अपनी लोकप्रियता के कारण को ठीक से समझ नहीं पाये या उस सफलता से मदांध होकर अपने को तीसमार खाँ समझने लगे, या फिर वे एक-दो फ़िल्मों में ही इस क़दर चुक गये थे कि आगे के लिए उनमें कुछ भी नया शेष नहीं रह गया था। नतीज़ा

यह हुआ कि उनका नवयथार्थवाद दिशाहीन हो कर रह गया। एक तरह से ये भी
उसी तरह के फ़ार्मूलावाद के शिकार हो गये, जिसके ख़िलाफ़ वे खड़े हुए थे। इनकी
आगामी फ़िल्मों के लिए भी एक तयशुदा फ़ार्मूला बनता गया——— ग़रीब, प्रताड़ित
पात्र; लंबे, उबाऊ दृश्यों के टेक, घिनौने सैक्स सीन, आदि, या प्रतिबद्धता और
दर्शन के नाम पर ऐसे जटिल कथानक जो औसत दर्शक की समझ से भी परे हों,
आम दर्शक की तो बात ही क्या? गोदारं, रेनुआरं और त्रूफ़ो के इन देसी अवतारों
की फ़िल्में मात्र कुछेक गिने-चुने बुद्धिजीवियों के ड्राइंग रूम की चर्चा से आगे नहीं
चल पायीं। बहुत हुआ तो किसी दूरस्थ फ़िल्म समारोह में एक-आध पुरस्कार बटोर लायी।

यों और भी कुछ वजहें थीं, जैसे टी.वी. और वीडियो का प्रवेश जो समांतर आंदोलन
अपनी ही मौत मारा गया। पूरी तरह तो नहीं, पर जैसी चुनौती उसने व्यावसायिक
सिनेमा के सामने खड़ी कर दिखाई थी, उसके मुक़ाबले समांतर सिनेमा को अपने
अस्तित्व को बचाये रखने की जो चुनौती थी, वह खुद उसके अपने वजूद से ही
थी। यानी उसे अपने को बचाये रखने की दिशा खुद अपने भीतर से ही तलाशनी
थी। लेकिन ऐसा हुआ नहीं। नतीज़तन जो लोग नये सिनेमा से बँधे हुए थे उन्होंने
भी निराशा में व्यावसायिक सिनेमा का सहारा लिया। इनमें नसीर जैसे लोग तो इस
हद तक निराश हुए कि उन्होंने नये सिनेमा को कोसना शुरू कर दिया।

यहाँ, इसी दौर की एक धारा की बात कर लेना चाहिए। बीच का सिनेमा या मिडिल
ऑव् द रोड सिनेमा। यह धारा यद्यपि फैंटेसीवाले सिनेमा के साथ साथ हमेशा चलती
रही है। ऋषीकेश मुखर्जी, गुलज़ार जैसे फ़िल्मकार इसके सहयात्री रहे हैं। बाद में
अंकुर, **निशांत** जैसी फ़िल्मों से श्याम बेनेगल, या **अनुभव**, **आविष्कार**, **गृहप्रवेश**
जैसी फ़िल्मों से बासु भट्टाचार्य इसी धारा में आये हैं। पर समय ने जैसे इस धारा
को भी अपने भीतर लील लिया। गुलज़ार की **लिबास** न जाने कब से बंद पड़ी
हुई है। उनकी एक फ़िल्म रो-रो कर पूरी हुई है——— नाम है **लेकिन**। लेकिन
इसके पूरा हो पाने का श्रेय इसकी निर्माता लता मंगेशकर को ही ज़्यादा है। इसी
तरह ऋषीकेश मुखर्जी की **मुसाफ़िर** कब से पड़ी हुई है। बासु की **पंचवटी** कई
साल डिब्बों में बंद रह कर हाल ही में रिलीज़ हुई है।

नसीरुद्दीन शाह, ओमपुरी जैसे प्रतिबद्ध कलाकार नये सिनेमा से दल-बदल कर
कॉमर्शियल सिनेमा की ओर झुके, उसी तरह दूसरे दौर के फ़िल्मकार गुलज़ार, श्याम
बेनेगल, प्रकाश झा, गोविन्द निहलानी वग़ैरह टीवी में अपनी मंज़िल तलाशने लगे,
बल्कि श्याम बेनेगल की तरह कुछ ने तो सरकारी तंत्र के इर्दगिर्द इस तरह घूमना
शुरू किया कि वे कई तरह समझौते करने से भी नहीं चूके। ये वे नाम थे जिनके
सहारे समांतर सिनेमा का भविष्य बन सकता था। ऐसा नहीं है कि इनमें प्रतिभा
और सामर्थ्य की कमी है। श्याम बेनेगल की **भारत एक खोज** में जहाँ कई
कमियाँ हैं, उसमें बहुत से अच्छे तत्व भी हैं जो उसे टी.वी. के उन अनेक सीरियलों
से श्रेष्ठ बनाते हैं जो लोकप्रिय होने के बावजूद फूहड़ और अकलात्मक रहे हैं जैसे
महा-लोकप्रिय सीरियल **रामायण**। गोविंद निहलानी का **तमस** भी अनूठा सीरियल

साबित हुआ। पर ये सभी फ़िल्मकार जो टी.वी. के लिए लाभ का सौदा बने, वे नये सिनेमा के नुकसान के खाते में ही रखे जायेंगे। गोविन्द ने फ़िल्में तो कई बनायीं, और अभी भी बना रहे हैं पर वे सिनेमा के माध्यम का भरपूर उपयोग न जाने क्यों नहीं कर पा रहे हैं। **पार्टी** और **ज़जीरे** में उन्होंने तमाम संभावनाओं को जैसे एक कमरे में सीमित कर लिया है। **दृष्टि** की बाबत अभी कुछ कहा नहीं जा सकता पर यह उन्होंने डिंपल जैसी व्यावसायिक अभिनेत्री को लेकर, लगभग उसी की सच्ची जीवन कहानी पर बनायी है, ज़ाहिर है इसमें व्यावसायिकता से समझौता करने के ख़तरे काफ़ी कुछ हैं।

जैसा कि पहले कहा गया है कि समांतर सिनेमा की धारा पूरी तरह तिरोहित नहीं हो गयी है, इधर कुछेक फ़िल्मों में आशा की किरण दिखाई दी है जैसे **बाघ बहादुर** या **मढ़ी का दीवा।** पर ऐसी फ़िल्में गिनती में कम हैं। दूसरी इनमें सफल होने के वे तत्व भी नहीं हैं जिनके रहते ये व्यावसायिक सिनेमा के समक्ष चुनौती बन कर खड़ी हो जायें।

इस पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य में मौजूदा हिन्दुस्तानी सिनेमा और उसकी स्थिति को परखा जाये। मैं उन अतीतजीवियों में नहीं हूँ जो बरुआ के **देवदास** और बिमल रॉय के **देवदास** की तुलना करते वक़्त, यह कहना नहीं भूलते हैं कि पुराने **देवदास** वाली बात इसमें कहाँ? या महताब वाली **चित्रलेखा** को मीनाकुमारी वाली **चित्रलेखा** से बेहतर इसीलिए मानते हैं कि वह पहले बनी थी, **संगम** को देखने के बाद **अंदाज़** का दिलीप कुमार चिंपेंजी और बेअसर लगता है, मैं ऐसा भी नहीं कहना चाहूँगा। पर आप इससे इंकार कैसे करेंगे कि तकनीकी नज़रिये से पहले के सिनेमा की बनिस्बत आज का सिनेमा कितना आगे बढ़ गया है, नयी से नयी तकनीक जहाँ आज के सिनेमा के सामने चुनौती है, वहाँ, वह दूसरी कई चुनौतियों से लड़ने का हथियार भी है। जैसे वीडियो और छोटे परदे की वजह से थियेटर में फ़िल्मों के दर्शक घटने की समस्या का समाधान क्या हो यह अभी तक फ़िल्म निर्माता के सामने चुनौती बनकर खड़ा था। थ्री डी— यानी त्रिआयामी पद्धति में उसे एक राह दिखाई दी। एक फ़िल्म **(छोटा चेतन)** इस तकनीक की वजह से बेहद सफल भी हुई। नतीज़तन कितने ही निर्माताओं ने इसकी देखादेखी अपनी त्रिआयामी फ़िल्म की घोषणा कर दी। कई ने इसके कीमती उपकरण भी आयात कर लिये। कुछ ने अमरीका जा कर इसका प्रशिक्षण भी लिया। फिर आयी **शिवा का इंसाफ़** आदि जो बेतरह विफल हुईं। तब समझ में आया कि इस तकनीक की सबसे बड़ी कमी, इसे देखने के लिए पहना जाने वाला चश्मा है। बस, वीडियो से लड़ने का इतना बड़ा हथियार इस चश्मे ने नाकाम कर दिया।

अब **मैंने प्यार किया** ने फिर रास्ता दिखाया। चार ट्रैक साउंड सिस्टम जिसका आनन्द महज़ थियेटर में लिया जा सकता है (बशर्ते कि वह थियेटर इसके लिए विशेषतः तैयार किया गया हो)। यह प्रयोग फ़िल्म की तरह ही सफल हुआ। बल्कि कहना तो यह चाहिए कि चूँकि फ़िल्म **मैंने प्यार किया** आशातीत सफल रही, यह सिस्टम भी सफल माना गया। अब अनेक फिल्में इसी पद्धति से बन रही हैं। इनमें सब सफल होंगी, यह नहीं कहा जा सकता।

तो वीडियो का छोटा परदा फ़िल्म के लिए चुनौती है, मैं नहीं मानता। इस चुनौती के सामने नयी तकनीकों के हथियार भले ही नाकाम हो जायें, लेकिन अगर फ़िल्म अच्छी है और उसका दृश्यांकन बड़े परदे पर ज़्यादा खूबसूरत और प्रभावी लगता है तो झक मार कर दर्शक को हॉल में जाना पड़ेगा। **चाँदनी, घायल** और **दिल** के उदाहरण आपके सामने हैं।

इस तरह सिनेमा से बाहर के तत्वों से उपजी तमाम चुनौतियों के तोड़ हिन्दुस्तानी सिनेमा के पास मौजूद हैं, या तैयार होते रहेंगे। पर जो चुनौतियाँ उसके भीतर से हैं उनका क्या किया जायेगा? आज का दर्शक पहले जैसा भोलाभाला, अपढ़, नासमझ नहीं रह गया है जिसे बहकाया या फुसलाया जा सके। आज उसे असली और नक़ली की समझ है। आज वह जानता है कि अदालत के दृश्य में कहाँ कमी है, अविश्वसनीय हरकतों या चमत्कार पर उसे यक़ीन नहीं है, वह उन्हें तर्क की तराजू पर तौलने लगा है। **तूफ़ान** और **जादूगर** इसलिए विफल होती हैं। **दीवाना मुझ सा नहीं** में सफल **दिल** की वही जोड़ी क़ामयाब इसीलिए नहीं होती कि ऐसे दीवाने आशिक को दर्शक पागल सिरफिरा तो मान सकता है, हीरो नहीं। विदेशी फ़िल्मों की आमद से या फिर अंतर्राष्ट्रीय फ़िल्म समारोह में लगातार बढ़ती दर्शकों की रुचि के कारण हमारी फ़िल्मों और विदेशी फ़िल्मों की तुलना के मौक़े और बढ़ गये हैं। दर्शक ज़्यादा जागरूक, बुद्धिमान और शिक्षित होता जा रहा है। वह कूपमंडुक भी नहीं रहा। दुनिया नापनेवाले लोग भी बढ़ते जा रहे हैं। ऐसे में फूहड़ और असंगत विषयों को लेकर बनायी गयी फ़िल्म दर्शक के गले नहीं उतरने वाली है। लेकिन हमारे यहाँ अभी तक भेड़चाल का सिद्धांत चल रहा है। एक विषय या अंदाज सफल हुआ अनगिनत फ़िल्मों के मुहूर्त उसी तर्ज़ पर हो जाते हैं। **मैंने प्यार किया** भोले सहज प्यार और संगीत की फ़िल्म थी। उसकी देखादेखी सौ से ज़्यादा संगीत प्रधान फ़िल्में प्यार और रोमाँस पर इन दिनों फ़्लोर पर हैं। **दिल** ज़रूर सफल हो गयी है, पर क्या सौ की सौ सफल हो सकेंगी? इस तरह हिन्दुस्तानी सिनेमा को भेड़चाल की चुनौती से लड़ना है।

विषयगत चुनौतियाँ और भी हैं। अभी हाल ही में प्रसार-भारती बिल पास हुआ है। उसकी वजह से टीवी को ज़्यादा स्वतंत्रता मिलेगी। अधिक साहसिक और आलोचना प्रवण विषय उस पर आ सकेंगे। सिनेमा को यह स्वतंत्रता पहले ही थी। लेकिन अब फ़िल्मों की प्रतिद्वंद्विता और बढ़ेगी। सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक विषयों में से कितने ही विषय जैसे बाल-विवाह, सती, दहेज, भ्रष्टाचार, स्मगलिंग आदि बार-बार फ़िल्मों में आ चुके हैं। अब इनके दूसरे पहलू खोजने पड़ेंगे, लेकिन हिन्दुस्तानी सिनेमा की प्रवृत्ति तो एकदम दूसरी है। हमारे यहाँ तो नये विषय खोजने की जगह उन्हीं विषयों को उलट-पुलट कर नये मिर्च-मसाले के साथ परोस कर छुट्टी पा ली जाती है। अगर तुक्का लग गया तो फ़िल्मकार के पौ-बारह नहीं तो टीवी-वीडियो-केबल टीवी वग़ैरह को दोषी करार दे दिया जाता है। सबसे बड़ी वजह यह है कि कोशिश उस फ़ार्मूले को तलाशने की होती रहती है जिसके ज़रिये सफल फ़िल्म बन सके।

भई, आपको अच्छी फ़िल्म बनानी है कोई चूँ चूँ का मुरब्बा तो नहीं बनाना जो तयशुदा नुस्ख़ा ले कर काम किया जाये? कि इतने फीट गाने के लिए, इतने फीट प्यार-मुहब्बत या सैक्स के लिए, इतने चेज़ सा फाइट के सीन, इतने रोने-धोने के दृश्य, इतनी हिंसा, इतनी नफ़रत वग़ैरह अगर फ़िल्म में हों तो वह सफल फ़िल्म होगी। दर्शक उस पर टूट पड़ेंगे। नतीज़ा यह होता है कि भले ही कोई तर्क या विषय की ज़रूरत न हो कई ऐसे सीन डाले जाते हैं जो बेमानी लगते हैं या फिर उनके ज़रिये कुछ तत्वों को *एक्स-प्लॉयट* करने का तरीक़ा खोज निकाला जाता है। इधर एक फ़िल्म प्रदर्शित हुई है **कॉलेज़ गर्ल**। को-एजुकेशन वाले कॉलेज़ की ज्वलंत समस्या को इसमें उभारा जा सकता था। एक सच्ची घटना का सहारा लिया गया। पर दिखाया क्या गया? बलात्कार के नाम पर घृणित, उत्तेजक और कामुक दृश्य। यहाँ तक कि बेचारी कॉलेज़ गर्ल ही नहीं, उसके पूरे ख़ानदान को शर्म आ जाये। एक्स-प्लॉयट करने की ऐसी ओछी प्रवृत्ति से बचना भी एक बड़ी चुनौती है, हमारे सिनेमा के सामने।

विषयों की कमी कभी नहीं होती, कमी होती है, उन्हें तलाशने वाले में। अब तक विदेश से नक़ल मार कर फ़िल्म की कहानी तैयार करना आसान तरीक़ा समझा जाता रहा है। अंतर्राष्ट्रीय फ़िल्मोत्सवों में आयी दूर दराज के देश की फ़िल्म का ज्यों का त्यों भारतीयीकरण करके रख देनेवाले तो कई स्वनाम-धन्य फ़िल्मकार हैं, पर अब तो व्यावसायिक और लोकप्रिय अंग्रेज़ी फ़िल्म के कई-कई रुपांतरण भी बनने लगे हैं। साक्षरता बढ़ने के बाद अंग्रेज़ी फ़िल्मों के दर्शकों की संख्या भी बढ़ गयी है। ऐसी नक़ल अब छिपी नहीं रहती। उल्टा, दर्शक उसकी अंग्रेज़ी फ़िल्म से तुलना करने लगता है और हिन्दुस्तानी फ़िल्म की कमियाँ ढूँढ़ने लगता है। नतीज़तन फ़िल्म पसंद नहीं आती। इसलिए अच्छे, जागरूक, मौलिक लेखकों की कमी एक बड़ी चुनौती है, जिसे पूरा करने के लिए हिन्दुस्तानी सिनेमा को सोचना होगा।

इसका यह अर्थ भी नहीं कि समूची तस्वीर निराशाजनक है। बल्कि अगर चुनौतियाँ सामने न हों तो विकास अवरुद्ध हो जाता है। चुनौतियाँ ही तो नया सोचने को, नयी दिशा का अन्वेषण करने का प्रेरणा देती हैं। वक़्त बदला है, और भी बदलेगा। पहले के वक़्त में लोग सीधे होते थे। इतना छल, फ़रेब, भ्रष्टाचार, हिंसा, बलात्कार नहीं था। तब सिनेमा भी सीधा था, सच्चा था। अब लोग सयाने हो गये हैं। सिनेमा भी सयाना होता जा रहा है, बस उसे यह भी ध्यान रखना है कि दर्शक भी सयाना हो गया है। इसे समझ लिया तो रास्ता साफ़ है।

जयप्रकाश चौकसे

5

भारत एक सिनेमा-प्रधान देश है। आजकल पर्यटन स्थल पर गाईड स्थान के
ऐतिहासिक महत्व के पहले यह बताता है कि यहाँ फलाँ फ़िल्म की शूटिंग हुई थी।
हमारी बोलचाल की भाषा में फ़िल्म के मुहावरों का प्रयोग होने लगा है और रोज़मर्रा
के जीवन की अनेक चीज़ें *सुपरहिट* या *फ्लॉप* होने लगी हैं। शादी के समय
दूल्हा-दुल्हन वीडियो फ़िल्म के लिए दुबारा वरमाला डालने लगे हैं और कैमरे की
ख़राबी के कारण मुहूर्त टलने लगे हैं। मृत्युशैया पर पड़े हुए बुज़ुर्ग के बारे में यह
कहा जाने लगा है कि इसका *क्लाईमैक्स* लम्बा खिंच रहा है। भारत सिनेमामय देश
हो चुका है। आँकड़ों के स्तर पर भी भारत सबसे अधिक फ़िल्में (लगभग 100
प्रति वर्ष) बनाने वाला देश है। भारत सचमुच में फ़िल्म प्रधान देश है।
हमारे पुराण कहते हैं कि जब भी धरती पर पाप बढ़ता है, भगवान अवतार लेते
हैं। अतः अवतारों के प्रति जनमानस में बहुत मोह है। इस मोह को विश्वास
कहने का मन नहीं होता क्योंकि विश्वास सत्य से जुड़ा होता है। अवतारवादी
जनमानस नायक-पूजा में लीन रहता है और इस पूजा की ललक उसे अवतार खोजने
में मदद भी देती है। 33 करोड़ देवी देवताओं को पूजने वाला देश फ़िल्म को
वर्तमान का पुराण और फोक-लोर मानने लगा है। भारतीय फ़िल्म-दर्शक भक्त हैं
और उनकी निष्ठा पर शक नहीं किया जा सकता। दूसरे देशों के दर्शकों से भारतीय
दर्शक की तुलना नहीं की जा सकती क्योंकि ऐसा उन्माद कहीं और देखने को नहीं
मिलता। दर्शक के उन्माद के कारण ही उसे भक्त का दर्ज़ा, दे रहा हूँ। अनेक
नगरों और कस्बों में बड़े अभिनेताओं की फ़िल्म का पहला शो सुबह 7 बजे होता
है और अकोला और अमरावती में रात 1 बजे शो प्रारंभ होता है— बुधवार की

रात पुरानी फ़िल्म का चौथा शो ख़त्म होते ही, नयी फ़िल्म के निरंतर शो प्रारंभ होते हैं और हाऊस फुल लगते हैं। इसे उन्माद नहीं तो क्या कहेंगे? वीडियो और टेलीविजन से इस उन्माद पर कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा है। वीडियो और टेलीविजन ने छोटी और असफल फ़िल्मों के दर्शक छीने हैं और बड़ी फ़िल्मों के लिए उन्माद बढ़ाया ही है।.दर्शकों के इस उन्माद ने ही भारत को फ़िल्म प्रधान देश बनाया है।

विदेशों का फ़िल्म दर्शक नाटक और ऑपेरा का दर्शक रहा है— उसने क्लैसिकल कन्सर्ट सुने हैं। भारत का दर्शक चौपाल से आया है जहाँ उसने बुजुर्गों से क़िस्से कहानियाँ और लोक गीत सुने हैं। उसे नौटंकी का भी अनुभव है। कुछ लोगों ने पारसी थियेटर भी देखा है। मोटे तौर पर भारतीय दर्शक को चौपाल से आया हुआ दर्शक ही मानना चाहिए। बुराई पर अच्छाई की विजय का मानदण्ड उसने चौपाल से ही पाया है। इसीलिए किंवदंतियों के मानदण्ड पर ही वह सिनेमा को भी परखता है। वह सिनेमा के तकनीक से एकदम अनभिज्ञ है और फ़िल्म निर्माण की प्रक्रिया में अन्तर्निहित बाधाओं से अनजान है। इसलिए कठिन परिश्रम से लिये गये शॉट के प्रति वह निर्मम भी है क्योंकि सिनेमा से उसे एक कथा मात्र का आनंद चाहिए जिसमें नायक खलनायक की पिटाई करे। इस आदिम दर्शक ने गाँव के चौपाल को सिनेमागृह में स्थापित कर दिया है और नौटंकी के मानदण्डों पर बीसवीं सदी की मशीनों से पैदा की गयी आधुनिक कला का मूल्यांकन होता है। परम्परा की तराजू पर आधुनिकता को तोलने की इसी कोशिश के कारण भारतीय सिनेमा कस्बाई मनोवृत्ति से नहीं उभर पाया है। हमारे हॉलीवुड के बीच हमेशा ही सदियों के फ़ासले रहेंगे।

हर बड़ी व्यावसायिक फ़िल्म का पहला शो देखना एक मज़ेदार और ज्ञानप्रद अनुभव होता है। नायक के पर्दे पर आते ही सिक्के फेंके जाते हैं— मनपसंद गीत के आते ही लोग उठकर थिरकने लगते हैं। पहले ये सारी हरकतें चवन्नी छाप दर्शक करते थे जो आगे की सीटों पर बैठे होते थे। पिछले कुछ वर्षों में इस तरह की हरकतें बालकनी के दर्शक भी करने लगे हैं क्योंकि मनमोहन देसाई और अमिताभ ने नीचे की श्रेणियों के दर्शकों को बालकनी में भेज दिया है और बालकनी के दर्शकों को घर बैठा दिया है। उन्हें वीडियो को समर्पित कर दिया है। पिछले दो दशकों में मसाला फ़िल्मों ने दर्शकों का श्रेणी-भेद समाप्त कर दिया है। रुपये के अवमूल्यन ने भी दर्शकों को वर्ग-विहीन समाज में बदला है। दर्शकों का यह *साधारणीकरण* फ़िल्मों के स्तर पर काफ़ी प्रकाश डालता है।

हमारी राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों ने भी दर्शकों को सिनेमा के मायावी संसार का नागरिक बनाया है। यथार्थ की विकट समस्याओं से घबराकर आम आदमी सिनेमा की ओर पलायन करता है। जो उसे दिन के उजाले में नहीं मिलता, उसे ढूँढने वह सिनेमा के अँधेरे में पहुँचता है। विलास का ईस्टमेन कलर सपना उसे अच्छा लगता है। न्याय के लिए लड़ने मरने की इच्छा उसे मन में भी है। इसी इच्छा को जब पर्दे पर नायक पूरी करता है तो वह ताली बजाने लगता है। फ़िल्म का नायक उसके अन्तर्मन का प्रतिनिधि हो जाता है और इन दो अपरिचित लोगों

(दर्शक और नायक) में एक अनजाना सा तादात्म्य स्थापित हो जाता है जिसे चतुर
व्यावसायिक निर्माता टिकट खिड़की पर भुनाता है। नायक और दर्शक के बीच
परिचय की प्रक्रिया बड़ी रहस्यमय है। यह एक अवर्णनीय प्रेम है जो बस हो जाता
है। अगर केवल नायक ही दर्शक के अन्तर्मन का आईना होता तो खलनायक सितारे
कैसे बनते। इस तिलस्म का भेद मिलना मुश्किल है। *शोले* का गब्बर *शोले* के
वीरु से ज़्यादा लोकप्रिय क्यों हुआ? क्या आम दर्शक का अन्तर्मन खलनायक का
अन्तर्मन है? मुट्ठी पर विकृत मानसिकता वाले लोग गब्बर होना चाह सकते हैं।
परन्तु गब्बर को तो बच्चों तक ने बहुत पसंद किया। इसलिए दर्शक और पात्र की
परिचय प्रक्रिया को समझना मुश्किल है। पूरी फ़िल्म का समग्र प्रभाव ही फ़िल्म
को सफल बनाता है। तीन घंटे के लिए अँधेरा बन्द सिनेमागृह एक क्रुसिबल बन
जाता है जिसमें अनजान रासायनिक प्रक्रिया होती है जिसके फलस्वरूप साधारण
क़द-काठी का आदमी प्रसिद्ध नायक हो जाता है। फरीदा जलाल जैसी सुन्दर और
असाधारण प्रतिभा वाली अभिनेत्री कभी चोटी की *सितारा* नहीं बनी क्योंकि उसका
व्यक्तित्व उन तत्वों से नहीं बना था जिनसे सपने बनते हैं अर्थात् दर्शक सपना ही
चाहता है। सपने की चाभी मात्र से उस तिलिस्म को तोड़ना संभव नहीं है। वह
कुछ और भी है।

जीवन के कटु यथार्थ से पलायन करके, चौपाल से सिनेमागृह तक पहुँचा दर्शक
सपनों का ग्राहक है— सिनेमा उसके लिए एक नशा है। उसके पास कोई ट्रेनिंग
नहीं है— कोई ज्ञान नहीं है। वह सिनेमा के विज्ञान और कला से सर्वथा अनभिज्ञ
है। भारत में सिनेमा से जुड़ी सारी समस्याओं के मूल में है दर्शक का अज्ञानी
होना। हमारे देश में आम आदमी विज्ञान के हर चमत्कार का लाभ उठाता है, परन्तु
वह वस्तु कैसे चलती है— इसकी जानकारी वह नहीं लेना चाहता। उसके लिए
विज्ञान की हर चीज़ एक जादू है, एक चमत्कार है। वह सिर्फ़ *खुलजा सिमसिम*
बोलना चाहता है और खजाने का द्वार उसके लिए खुल जाना चाहिए। भारत का
आम आदमी विज्ञान की हर खोज को जादू की तरह ही लेता है। हमारे यहाँ कितने
लोग *वेव लेंग्थ* या *फ्रीक्वेंसी* को समझते हैं? परन्तु ये सभी लोग रेडियो और
ट्रांजिस्टर पर गाने सुनना चाहते हैं। एक खटका दबाओ और गाने सुनो— *वेव*
लेंग्थ से क्या लेना देना है। अनेक लोग काँटा खिसकाने की झंझट भी मोल नहीं
लेना चाहते। वे सिर्फ़ खटका दबाना चाहते हैं अर्थात् खुलजा *सिमसिम।*
दर्शकों को सिनेमा की साधारण जानकारी देना आवश्यक है। यह साधारण ज्ञान ही
दर्शक को व्यावसायिक सिनेमा के *ग्लैमर* से मुक्त करायेगा। आज फ़िल्म से सम्बन्धित
हज़ारों पत्रिकाएँ निकलती हैं परन्तु ये सारी पत्रिकाएँ सिनेमा नाम के नशे का विज्ञापन
मात्र हैं। ये पत्रिकाएँ सिनेमा के प्रभाव से ज़्यादा घातक हैं। इन पत्रिकाओं के पाठक
हैं क्योंकि सिनेमा पर सरल भाषा में किताबों का अभाव है। गॉसिप पत्रकारिता ने
दर्शक को नुकसान ही पहुँचाया है। भारत सरकार को चाहिए कि सिनेमा को एक
विषय के रूप में स्कूल के पाठ्यक्रम में सम्मिलित करे। स्कूल-कॉलेज में सिनेमा

तकनीक और कला का ज्ञान पाने वाले दर्शक ग्लेमर और किंवदंतियों से मुक्त होकर अच्छी फ़िल्में ही देखना पसन्द करेंगे। धीरे धीरे दर्शकों की ऐसी पीढ़ियाँ आगे आयेंगी जिन्हें अच्छे-बुरे की समझ होगी। आज बुरी फ़िल्मों का मार्केट है, इसलिए बुरी फ़िल्में बनती हैं। कल यदि यह मार्केट ख़त्म होगा तो नहीं बनेंगी।

दर्शकों को प्रशिक्षित करने की प्रक्रिया लम्बी है। नतीज़े आने में वक़्त लगेगा। शिक्षा को इसी प्रक्रिया से सिनेमा की सारी बुराईयाँ जड़ से समाप्त हो जायेंगी। गॉसिप पत्रकारिता पर भी अंकुश लगेगा। सिनेमा से उसका ज़हर निकल जायेगा और वह नशा नहीं रहकर समाज सुधार और स्वस्थ मनोरंजन का सबसे सशक्त माध्यम बन जायेगा। आज तो हालत यह है कि चौपाल से आया हुआ दर्शक सुन्दर लोकेशन को अच्छी फ़ोटोग्राफ़ी कहता है, लाउड परफॉरमन्स को अच्छा अभिनय कहता है। पटकथा और कथा के अन्तर को नहीं समझता। ट्राली और जूम का अन्तर नहीं समझ में आता तो ठीक है परन्तु चरित्र को अभिनय कहने के कारण ही कितने ही फूहड़ लोग अच्छे अभिनेता माने जाते हैं। दर्शक के अज्ञान ने बड़े जुल्म ढाये हैं। इसी कारण करोड़ों दर्शकों के रहते हुए भी भारतीय सिनेमा में दर्शक का संकट बना हुआ है।



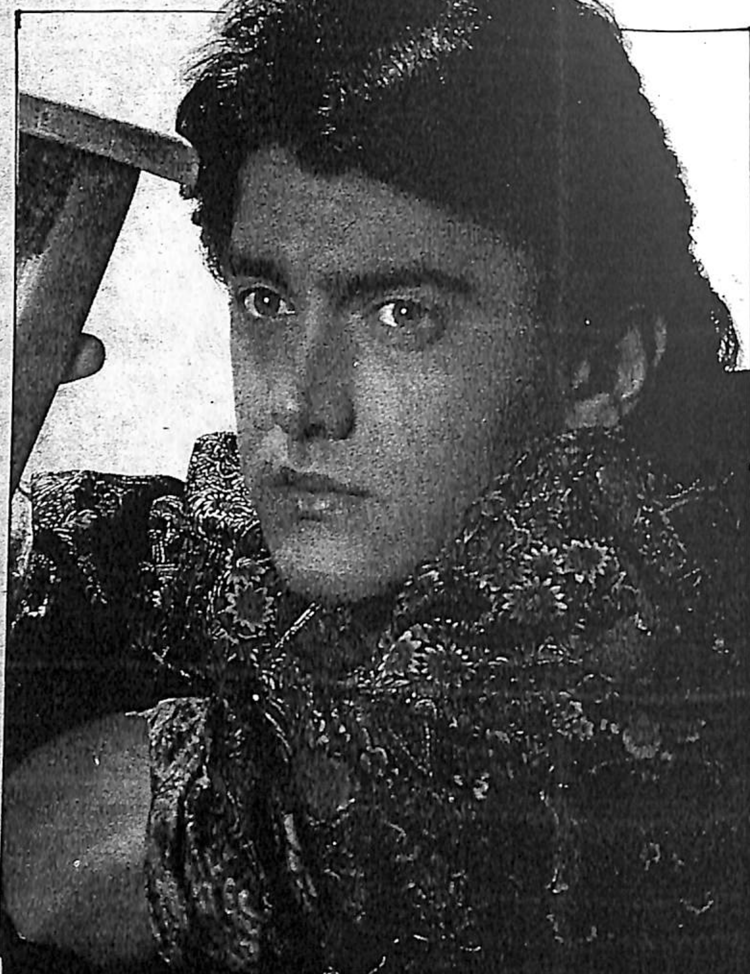
सिनेमा पर मूल्यवान सामग्री का निरन्तर सिलसिला



राजकपूर : श्रीराम ताम्रकर
बिमल रॉय : रिंकी भट्टाचार्य
गुरुदत्त : तीन अंकीय त्रासदी : अरुण खोपकर
शतरंज के खिलाड़ी : डॉ. सुरेन्द्रनाथ तिवारी

मध्यप्रदेश फिल्म विकास निगम की एक और पहल





पटकथा

अगला अंक

- ☐ फ़िल्म और यथार्थ रुडोल्फ़ आर्नहीम
- ☐ सत्यजीत राय आशीष नंदी
- ☐ फिर तेरी कहानी याद आयी, फिर तेरा तराना याद आया नौशाद पर एक भावप्रवण टिप्पणी शशिकांत किणीकर
- ☐ आलोचक का आत्मकथ्य : इकबाल मसूद टी.जी. वैद्यनाथन्

विरासत जो हमारी ही नहीं पूरे भारत की है..........

